

बहस में स्त्री राधावल्लभ त्रिपाठी

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक हीरानन्द स्मृति व्याख्यानमाला के अंतर्गत सात मार्च 2011 को मेरे द्वारा दिये गये व्याख्यान का विस्तारित रूप है। मूल व्याख्यान का शीर्षक था - भारतीय शास्त्रार्थपरम्परा में स्त्रियों का योगदान। पुस्तिका का आकार देते समय जो सामग्री जोड़ी गई है, उसमें मूल विषय से किंचित् विषयांतर हुआ है, पर उसकी उपादेयता को समझ कर पाठक इसे अपनायेंगे - ऐसी आशा है।

व्याख्यान में शास्त्रार्थ या वाद की सैद्धान्तिकी पर विस्तार से चर्चा करने का अवसर नहीं था। व्याख्यान को लघु पुस्तक का रूप देते समय लगा कि हमारे देश में दर्शनशास्त्र की परम्परा में वाद या बहस के स्वरूप, प्रकार और तरीके को ले कर विस्तृत विचार हुआ है, और यह विचार आज भी एक सीमा तक ग्राह्य है - यह जानना पाठकों के लिये रुचिकर हो सकता है। वास्तव में तो बहस के स्वरूप को ले कर जितनी बहस संस्कृत के शास्त्रकारों ने की है, उतनी कदाचित् संसार की किसी अन्य भाषा के साहित्य में नहीं मिलेगी। इसलिये एक अध्याय बहस के बारे में बहस या शास्त्रार्थ की सैद्धान्तिकी पर यहाँ जोड़ दिया गया है, तथा याज्ञवल्क्य और गार्गी के बीच हुई बहस के प्रसंग को भी कुछ और खोलने का प्रयास किया गया है।

पाँच हजार साल या इससे अधिक पहले से अब तक हमारी संस्कृति के इतिहास में कितनी-कितनी बहसें हुईं, कितनी बहसें खेल-खेल में आनन्द और क्रीडा के भाव से हुईं, कितनी कटुताओं, वेदनाओं, आरोप-प्रत्यारोप या दुःख और पीडा के बीच की चलती रहीं, किस तरह इन बहसों या शास्त्रार्थपरम्पराओं में हमारे समाज, धर्म और दर्शन तथा चिन्तन के विविध आयाम ही नहीं, उनके अन्तर्विरोध उजागर हुए - इसका कुछ आभास इस लघु पुस्तक से पाया जा सकेगा। इस तरह की बहस के लिये शास्त्रार्थ शब्द का प्रयोग होता आया है। यहाँ शास्त्रार्थ से आशय है खुली पारदर्शी बौद्धिक बहस - जो या दो से अधिक वादियों और प्रतिवादियों के बीच प्रत्यक्ष या परोक्ष उपस्थिति में वाचिक, लिखित या मुद्रित या अन्य माध्यम से घटित होती है। इस बहस का विषय धर्म दर्शन ही हो यह आवश्यक नहीं है, वह धर्मशास्त्र या कानून के किसी मसले पर भी हो सकती है, या समाजशास्त्र आदि से संबंधित हो सकती है। यह बहस आमंत्रित और पूर्वनियोजित हो सकती है, या यह कभी अप्रत्याशित और आकस्मिक रूप से किसी किसी असामान्य या दारुण परिस्थिति में सहसा करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में यह एक तरह का "अशास्त्रीय शास्त्रार्थ" होता है, जिसमें शास्त्रसम्मतप्रणाली से आरंभ और समापन

नहीं हो पाता, सारी कार्यवाही एक तरह के दबाव या विवशता में होती है। विवशता में होने वाले एक शास्त्रार्थ की चर्चा मैंने इस व्याख्यान में विशेष रूप से की थी। इस शास्त्रार्थ का आरंभ ही एक स्त्री के प्रश्न से होता है।

अल्बिरूनी हिन्दुस्तान के लोगों की पहचान ही यह बताते हैं कि वे एक दूसरे से लगातार बहस करने वाले लोग हैं। संस्कृत के पंडितों के बीच यह कहावत प्रचलित है कि वादे वादे जायते तत्त्वबोधः -- लगातार बहस करते जाने से तत्त्वज्ञान तक पहुँचा जा सकता है। अच्छी और सार्थक बहस की गुंजाइश बनी रहे यह किसी भी समाज की जीवन्तता की पहचान है, इसके विपरीत निरर्थक बहसों का जारी रहना उसकी रुग्णता का द्योतक हो सकता है। कालिदास अपने नायक के मुँह से कहलाते हैं - "किं वृथा तर्केणान्विष्यते?" - बेकार के तर्क या कुतर्क से क्या हासिल हो सकता है? बुद्ध, महावीर, गौतम, वात्स्यायन, धर्मकीर्ति आदि जिन भारतीय दार्शनिकों ने सार्थक बहस की प्रक्रिया, प्रणाली, संचालन व नियमन को ले कर बहसों की थीं, उन्होंने अव्याकृत प्रश्न, निग्रहस्थान, हेत्वाभास, अनवस्था या आपत्ति की अवधारणाओं के द्वारा यह भी विचार किया कि बहसों निरर्थक क्यों और कैसे होने लगती हैं।

संस्कृत के समाज में शास्त्रार्थ की शताब्दियों की परंपरा है, पर उसमें स्त्री की भूमिका पर बात कम हुई है, स्त्री की भूमिका भी कहीं है, तो वह उपेक्षित रही है। शास्त्रीय वाङ्मय ही नहीं, रामायण, महाभारत, कालिदास, भवभूति और बाणभट्ट जैसे कतिपय महाकवियों को छोड़ दें, तो लगभग सारा का सारा संस्कृत साहित्य ही पुरुषवादी दृष्टि और पुरुष के वर्चस्व के आख्यान से रचा हुआ है। इस पर चर्चा करने का यहाँ अवसर नहीं है, पर अपने विषय की पृष्ठभूमि के रूप में यह कहना तो आवश्यक है कि सारे धर्मशास्त्र पुरुषों के द्वारा लिखे गये, सारी स्मृतियाँ पुरुषों की रची हुई हैं। इन सब में स्त्री की भूमिका पर उस तरह से तो विचार नहीं ही हुआ है, जिस तरह स्त्रीप्रधान समाज में हो सकता था। उदाहरण के लिये - धर्मशास्त्र में तीन ऋण बताये गये देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण। पर मातृऋण भी हो सकता है इस पर कहीं कोई विचार धर्मशास्त्रकारों ने नहीं किया। ऋग्वेद का पुरुष सूक्त है, जिसमें पुरुष से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई - इसका दार्शनिक उपपत्तियों के साथ प्रतीकात्मक आख्यान है। इसका पाठ शादी ब्याह या अन्य अनेक अवसरों पर अनुष्ठान के अंग के रूप में होता है। हिरण्यगर्भ सूक्त भी सृष्टि का आख्यान है। ऐसा कोई स्त्री सूक्त या मातृसूक्त नहीं है, जिसमें स्त्री से सृष्टि कैसे हुई - यह कहा जाता हो। वागाम्भृणी सूक्त अवश्य है, जिसमें वाक् से सृष्टि होने की बात है।

ऐसी स्थिति में यह सम्भावना अत्यन्त क्षीण है कि भारत में शास्त्ररचना में या शास्त्रचिंतन के विकास में स्त्रियों की कोई बड़ी भूमिका हो। किसी स्त्री ने न्यायसूत्र या वात्स्यायनभाष्य जैसा कोई शास्त्रग्रंथ रचा हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। उपनिषत्काल के बाद शास्त्रार्थ में स्त्री विस्मृत हाशिये पर है, किसी कोने से उसकी आवाज सुनाई देती है। पर वह जब कभी अपने अवगुंठन से बाहर निकल कर आती है, तो एक विकट चुनौती

सामने रखती है और दुरंत प्रश्न उठाती है। भद्र या शिक्षित समाज में महिलाएँ पुरुषों के बीच बहस के लिये आती रही हैं और वे पुरुषों के आधिपत्य के बीच अपनी जगह भी बनाती रही हैं।

मैं इस पुस्तक में विशेष रूप से उन शास्त्रार्थों की चर्चा की गई है, जो पाँच हजार साल की हमारी सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में कई-कई सदियों के अंतराल पर घटित हुए, और जिन में स्त्रियों की न केवल अग्रणी और निर्णायक भूमिका रही, सारा का सारा परिदृश्य ही एक स्त्री के कारण बदल गया। मेरी दृष्टि में इन शास्त्रार्थों में विजय भी स्त्री की ही हुई है। इन शास्त्रार्थों के अलावा कुछ छोटे मोटे शास्त्रार्थों की चर्चा भी प्रसंगवश यहाँ हुई है, जिनमें कहीं न कहीं स्त्रियाँ अपनी उपस्थिति दर्ज करती हैं।

कई बार इन शास्त्रार्थों में स्त्री का अवतरण लगभग एक विस्फोट की तरह होता है। कुछ शास्त्रार्थ ऐसे भी हुए जिनमें स्त्री उपस्थिति की आँच अभी भी मंद नहीं हुई है। यह भी बहुधा हुआ है कि स्त्री अकेली होने के बावजूद अपनी प्रखरता और तेजस्विता में पुरुष समाज को हतप्रभ कर देती है।

इन शास्त्रार्थों की आधुनिक इतिहास के मुताबिक कोई तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती, उनमें से कुछ का तो स्रोत ही पौराणिक आख्यान या प्रचलित कथाएँ हैं। पर वे इतिहास में भी घटित हुए हैं, मिथकीय हो कर भी इतिहास के कहीं अधिक वास्तविक हैं।

यह सत्य है कि शास्त्रार्थ में स्त्रियाँ बहुत सहज या स्वस्थ वातावरण में अवतीर्ण नहीं हुईं। इसके साथ ही जब उन्हें शास्त्रार्थ में उतरना पड़ा, तो पुरुष उनके सामने कहीं हक्के -बक्के हैं, कहीं चुप्पी साधे हुए हैं या कहीं अकारण कुपित हैं। याज्ञवल्क्य की तरह के पुरुष कम मिलते हैं, जो गार्गी की मेधा को पहचान कर समस्तर पर आ कर उससे बहस कर सकें।

इस पुस्तक में वर्णित कतिपय प्रसंग शास्त्रार्थ या शास्त्रीय बहस न हो कर व्यक्तिगत वाद या विवाद अधिक हैं, पर उनमें उठाये गये प्रश्न नितान्त वैयक्तिक न हो कर धर्म, नीति, दर्शन या समाजशास्त्र के व्यापक संदर्भों से जुड़ते हैं।

इस पुस्तक की प्रेरणाभूमि निम्नलिखित श्लोक में रही है -

**अहल्या द्रौपदी तारा सीता मन्दोदरी तथा।
पञ्च कन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्॥**

(अहल्या, द्रौपदी, तारा, सीता और मन्दोदरी इन पाँच कन्याओं का नित्य स्मरण करे, यह स्मरण बड़े बड़े पापों का नाश कर देता है।)

यह श्लोक किसी ग्रन्थ में नहीं मिला। श्लोक में अहल्या, द्रौपदी, तारा, सीता और मन्दोदरी इन पाँच विवाहित महिलाओं को कन्या कहा गया है। पाँचों महिलाएँ अपने जीवन में पुरुष समाज के द्वारा धिक्कृत, तिरस्कृत और प्रताड़ित हुई हैं, सुभाषितकार ने क्या यह जताने के लिये उन्हें कन्या कहा कि वे वास्तव में इतिहास के पावनतम चरित्र हैं? उत्तरार्ध में पाठान्तर - **पञ्चकं नाः स्मरेन्नित्यं** (इन पाँचों का मनुष्य नित्य स्मरण करे) भी मिलता है, यह पाठ सही मान लेने पर पूर्वार्ध में उल्लिखित पंचक नारीपंचक ही कहा जा सकेगा, कन्यापंचक नहीं।

दिल्ली में एक बार 2005 या 2006 के आसपास पाठ्यपुस्तकों के मूल्यांकन के संदर्भ में हुई इस कार्यशाला में मुख्य वक्तव्य के उपस्थापन में एक महिला अध्येत्री ने इस श्लोक को ले कर यह कहा कि स्कूल की संस्कृत की पाठ्यपुस्तकों में इसी तरह के वंदना के श्लोक रहते हैं। इस पर मेरा कहना यह था कि यह तो वन्दना का श्लोक नहीं है। इस में तो केवल इतना ही कहा गया है कि अहल्या, द्रौपदी, तारा, सीता और मन्दोदरी - इन पाँच का (या इन पाँच कन्याओं (?) का स्मरण नित्य करे, इससे महापातक नष्ट होते हैं। आश्चर्य कि मेरी बात को प्रबुद्ध महिलाओं के उस समाज में हास्यास्पद माना गया।

क्या हम स्मरण और वन्दन में अंतर करना भूल गये हैं?

अहल्या, द्रौपदी, तारा, सीता और मन्दोदरी ये भारतीय इतिहास की सर्वाधिक प्रतारित की गई स्त्रियों में से कुछ के नाम हैं। हो सकता है कि यह श्लोक किसी स्त्री ने ही रचा हो, पुरुषों को स्मरण कराने के लिये कि उन्होने स्त्रियों के साथ कैसा कैसा बर्ताव किया है। यदि पुरुष का भी रचा हुआ है, तो इसमें मंगलाचरण है या इन प्रतारित स्त्रियों के प्रति किये गये अन्याय से उपजे अपराधबोध का प्रक्षालन?

इस श्लोक के स्रोत और कर्ता का पता नहीं चल सका। सुभाषितरत्नभाण्डागार तथा स्टर्नबाख के महासुभाषितसङ्ग्रह में यह नहीं है।

हीरानंद शास्त्री स्मृति व्याख्यान के गुणतारे में इस बात पर पहली बार ध्यान गया कि द्रौपदी, तारा, सीता और मन्दोदरी साहस और सत्यकथन के साथ बहस करने वाली महिलाएँ भी हैं। क्या सुभाषितकार इनका स्मरण इसलिये अथवा इसलिये भी कराना चाहता है कि इतिहास में ये महिलाएँ अपने पति के सामने ही नहीं, समाज के सामने बहस करने का साहस रखती हैं?

उपनिषदों में ब्रह्मोद्यो या ब्रह्मसभाओं का बहुत रोचक विस्तृत वर्णन आते हैं। इन ब्रह्मोद्यो में कहीं कहीं शास्त्रार्थ करने वाले ज्ञानी जन गंधर्व से आविष्ट स्त्रियों का उदाहरण देते हैं। गन्धर्व से आविष्ट स्त्री प्रश्न करने लग

जाती है, उसके प्रश्नों का उत्तर पुरुष समाज नहीं दे पाता। तब ये प्रश्न ब्रह्मसभाओं में या शास्त्रार्थ सभाओं में ज्ञानी जन एक दूसरे से पूछते हैं।

गन्धर्व का आवेश स्त्री में ही क्यों? जो स्त्री प्रश्न करती, क्या उसे गन्धर्व से आविष्ट बता दिया जाता था?

इन पाँच महिलाओं के साथ यह पुस्तक विश्व की उन सभी महिलाओं को अर्पित है, जिन्होंने प्रश्न उठाने का साहस किया और जो पुरुष के वर्चस्व के आगे बिना नतमस्तक हुए सार्थक बहस करने के लिये आगे आईं।

आदरणीय इंद्रनाथ चौधुरी जी का कृतज्ञ हूँ, उन्हीं के आदेश या अनुरोध से व्याख्यान और यह पुस्तक सम्भाव्य हुई। आदरणीय प्रो. कृष्णदत्त पालीवाल की पहल पर यह व्याख्यान इस रूप में हिंदी समाज के सामने आ सका - इसके लिये उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

-- राधावल्लभ त्रिपाठी

अध्याय 1

परंपरा और पृष्ठभूमि

भारत में बहस के आयोजन प्राचीन काल से ही संस्थागत रूप में होते आये हैं। अनेक अवसरों पर बहस अनायोजित और आकस्मिक रूप से भी आरंभ हुई है। भारतीय समाज मूलतः तर्कप्रवण और वादोन्मुख लोगों का समाज है। यहाँ के लोग अपने आप से तर्क वितर्क करते हैं और परस्पर भी। तथागत सिद्धार्थ मार्ग में वृद्ध, रोगी तथा मृत व्यक्ति को देख कर अपने आप से तर्क करते हैं, उसी तरह वे तपोवन में उन्हें वापस ले जाने के लिये आये मंत्री के साथ भी बहस तथा तर्क करते हैं। ज्ञान की खोज में वे तपोवन से हो कर राजगृह नगर पहुँचते हैं, जहाँ बिंबसार उनसे तर्कवितर्क करता है, और सिद्धार्थ उसकी विप्रतिपत्तियों का यथोचित उत्तर देते हैं। बिंबसार और सिद्धार्थ के संवाद का वर्णन महाकवि अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित महाकाव्य के दसवें और ग्यारहवें सर्गों में किया है। बारहवें सर्ग में वे अराड से उनके दर्शन और चिंतन का सार समझ कर उसका खंडन करते हैं। अन्य आश्रमों में बुद्ध इसी प्रकार अलग अलग ऋषियों से विचार-विमर्श या वाद करते हैं।

बहस के लिये पर्याय

संस्कृत की प्राचीन शास्त्रपरंपरा में इस तरह की बहस के अर्थ में शास्त्रार्थ शब्द का प्रयोग नहीं होता। वहाँ अन्य अनेक शब्द हैं, सबसे पुराना शब्द जो वैदिक साहित्य में मिलता है वह है ब्रह्मोद्य। बृहदारण्यक उनिषद् में वर्णित राजा जनक की सभा में हुए शास्त्रार्थ को, जिसकी चर्चा आगे की जा रही है, ब्रह्मोद्य ही कहा गया है।

ब्रह्मोद्य का आयोजन अश्वमेध तथा दशरात्र यज्ञों के अवसर पर किया जाता था। यज्ञ मात्र एक कर्मकांड या अनुष्ठान ही नहीं, अनेक रचनात्मक गतिविधियों के आयोजन का सक्रिय मंच था। ब्रह्मोद्य में उत्तम प्रस्तुति करने वाले पंडितों को कवि तथा विप्र की उपाधि से सम्मानित किया जाता था।¹

वैदिक साहित्य में ब्रह्मवाद, ब्रह्मवादी तथा ब्रह्मवादिनी - इन संज्ञाओं का प्रयोग ब्रह्म (ज्ञान) के विषय में बहस या चर्चा तथा चर्चा करने वालों के संदर्भ में हुआ है। अथर्ववेद में कहा गया है - ब्रह्मवादिनो वदन्ति (11.3.26)

वैदिक संहिताओं में शास्त्रार्थ से संबद्ध दो शब्द बार बार आते हैं - एक पृच्छा तथा दूसरा विचिकित्सा। जीवन और जगत् के मूलभूत प्रश्नों को ले कर ऋषि बार बार पृच्छा या विचिकित्सा करते हैं। ऋग्वेद के पहले मंडल के 164वें सूक्त में ऋषि कवियों से पृच्छा करता है, वह पृथिवी के परम अंत के विषय में जिज्ञासा करता है, वाणी का परम व्योम कहाँ है यह पूछता है। शास्त्रार्थ की शैली इस सूक्त में स्पष्ट परिलक्षित होती है। प्रश्न और समाधान दोनों साथ प्रस्तुत किये जाते हैं।

इस पृष्ठभूमि में अश्वमेध में होता प्रश्न करता था - वाणी का परम व्योम क्या है? ब्रह्मा उत्तर देता था- ब्रह्म ही अक्षरात्मक वाणी का परम व्योम है।

शतपथ ब्राह्मण में तो ब्रह्मोद्य का प्रशिक्षण दये जाने का भी विधानवर्णित है। शौचेय नामक ऋषि उद्दालक आरुणि के पास जा कर कहते हैं - मैं ब्रह्मोद्य का स्वरूप समझना चाहता हूँ। वह ब्रह्मोद्य के विषय में बत्तीस प्रश्न उद्दालक से करता है। उद्दालक एक एक कर के उन प्रश्नों का उत्तर देते हैं। एक एक प्रश्न के उत्तर के बाद शौचेय कहता है - मैं समझ गया।²

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य के साथ जनक की सभा में उस समय के सबसे बड़े ज्ञानियों के साथ हुई बहस को गार्गी ने ब्रह्मोद्य कहा है। गार्गी स्पष्ट घोषणा करती है कि यदि मेरे प्रश्नों का समुचित उत्तर याज्ञवल्क्य दे देंगे, तो उन्हें इस ब्रह्मोद्य में कोई नहीं जीत सकता।³

1- तैत्तिरीयसंहिता 2.5.9.1, तैत्तिरीयब्राह्मण 3.5.3.1, शतपथ 1.4.2.7 तथा 3.5.3.12, प्राचीनभारत की सांस्कृतिक भूमिका, पृ. 934)

2- शतपथब्राह्मण, 11.5.3.1, उद्धृत - भारतीयसंस्कृतिसौरभम्, पृ. 104-6

3- बृहदारण्यक उपनिषद्, 3.8.1

जब याज्ञवल्क्य गार्गी के प्रश्नों का यथोचित उत्तर दे देते हैं, तब वह वहाँ उपस्थित ज्ञानीजनों से कहती है - हे ब्रह्मज्ञानियो, आप लोगों के लिये अब यही बड़ी बात है कि आप याज्ञवल्क्य को नमस्कार बोलें और इनसे मुक्ति पायें, आप लोगों के बीच से इस ब्रह्मोद्य में इन्हें कोई नहीं जीत सकता।¹

अश्वमेध यज्ञ के समय होने वाले ब्रह्मोद्य का वर्णन यजुर्वेद में आया है। अश्वमेध में वीणावादन, पारिप्लव आख्यानो की प्रस्तुतियाँ तथा ब्रह्मोद्य का आयोजन किया जाता था। ब्रह्मोद्य प्रहेलिकात्मक प्रश्नोत्तर के रूप में होता था। यजुर्वेद 23.45-52 में ब्रह्मोद्य में होने वाले प्रश्नोत्तरों का नमूना इसप्रकार दिया गया है -

प्रश्न - कौन है जो एकाकी विचरण करता है, कौन है जो पुनः पुन जन्म लेता है, हिम का औषध क्या है, महावपन (बुवाई का क्षेत्र) क्या है?

उत्तर - सूर्य एकाकी विचरण करता है, चन्द्रमा बार बार जन्म लेता है, हिम का उपचार अग्नि है, भूमि महत् आवपन है।

प्रश्न - सूर्य के समान ज्योति क्या है, समुद्र के समान सरोवर कौन सा है, पृथिवी के लिये बड़ा क्या है और किसकी मात्रा नहीं होती?

उत्तर - ब्रह्म सूर्य के समान ज्योति है, द्यौः (अंतरिक्ष) समुद्र के समान सरोवर है, इन्द्र पृथिवी से बड़ा है, गाय की मात्रा नहीं होती।

प्रश्न - किन के भीतर पुरुष प्रविष्ट है, क्या क्या पुरुष में अर्पित हैं?

उत्तर - पाँच के भीतर पुरुष प्रविष्ट है वे पाँच ही पुरुष में अर्पित हैं।²

ब्रह्मोद्य के लिये ब्रह्मवद्य तथा ब्रह्मवाद्य ये दो शब्द भी कौषीतकिब्राह्मण (17.4) तथा तैत्तिरीयसंहिता (2.5.8.3) में प्रयुक्त हुए हैं।³

ब्रह्मोद्य चिंतन व विमर्श का एक जीवंत मंच था - इसमें संदेह कोई नहीं। बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्मोद्य का जो वर्णन है, उससे यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्मोद्य या शास्त्रार्थ की एक सुपरिभाषित प्रविधि ईसापूर्व की शताब्दियों में

1- वही, 3.8.8.) 2. -भारतीयसंस्कृतिसौरभम्, पृ. 104-6 पृ. 637-38। 3. -वैदिक इण्डैक्स, खण्ड-2, पृ. 80) ।

विकसित हो चुकी थी और उस प्रविधि या पद्धति के द्वारा ही शास्त्रार्थ संपन्न होते थे। इस प्रविधि में वादी और प्रतिवादी परस्पर प्रश्न कर सकते थे। याज्ञवल्क्य जनक की सभा में अपने प्रतिवादियों से कहते हैं - आप ब्रह्मज्ञानियों में से जो चाहे मुझ से प्रश्न करे। या फिर आप सब एक एक कर के मुझ से प्रश्न कीजिये। अथवा यदि आप में से कोई चाहता है कि मैं उससे प्रश्न करूँ, तो मैं ऐसा कर सकता हूँ। अथवा आप चाहें कि मैं आप सभी से एक एक कर के प्रश्न करूँ, तो यह भी हो सकता है।¹

रामायण तथा महाभारत में भी वाद के प्रसंग हैं, तथा बुद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व सिद्धार्थ ज्ञान की खोज में जब वनों और आश्रमों की यात्रा कर रहे थे, उस समय उनकी विभिन्न ज्ञानियों से भेंट के प्रसंगों में भी वाद मिलता है।

शंकराचार्य के चरित पर अनेक काव्य, चंपू आदि संस्कृत में लिखे गये। उनमें शंकराचार्य के द्वारा सारे भारत में किये गये शास्त्रार्थों के लिये वाद, वादकथा या कथा शब्द का प्रयोग किया गया है। माधवाचार्य के शंकरदिग्विजयमहाकाव्य में शंकराचार्य और मंडन मिश्र के संवाद के प्रसंग में कहा गया है --

भवतु सम्प्रति वादकथाऽऽवयोः

फलतु पुष्कलशास्त्रपरिश्रमः।

(शङ्करदिग्विजय, 8.42)

(अब हम दोनों के बीच वादकथा हो जाये, शास्त्र में जो प्रचुर परिश्रम किया है, वह सफल हो जाये।)

वादं करिष्यामि न सन्दिहेऽत्र (शङ्करदिग्विजयः, 8.46)

(मैं आपके साथ वाद करूँगा - इसमें मुझे कोई संदेह नहीं)

वादे हि वादिप्रतिवादिनौ द्वौ

विपक्षपक्षग्रहणं विधत्तः

का नौ प्रतिज्ञा वदतोश्च तस्यां

किं मानमिष्टं वद कः स्वभावः॥ (8.47)

1- ब्राह्मणाः भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु। सर्वे वा मा पृच्छत। यो वः कामयते तं वः पृच्छामि। सर्वान् वा वः पृच्छामीति। - बृहदारण्यक उपनिषद्, 3.9.27)

(वाद में वादी तथा प्रतिवादी ये दोनों विपक्ष और पक्ष का ग्रहण करते हैं, तो यह बताइये कि हमारी प्रतिज्ञा क्या है, प्रमाण क्या है, और क्या स्वभाव है?)। यहाँ प्रतिज्ञा और प्रमाण दोनों वाद के पारिभाषिक शब्द हैं।

एक दिन का शास्त्रार्थ समाप्त हो जाने पर कहा गया है -

भविष्यते वादकथाऽपरेद्यु-

मध्याह्निकः सम्प्रति कर्म कुर्याम्॥ 8.49

वादकथा कल होगी, अब मैं मध्याह्न का नित्यकर्म कर लूँ।

दसवीं शताब्दी में आचार्य राजशेखर हुए, जिन्होंने अपनी काव्यमीमांसा के दसवें अध्याय में राजा को महानगरों में कवियों और पंडितों की परीक्षा के लिये ब्रह्मसभा आयोजित करने का निर्देश दिया है। परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले कवियों और पंडितों को ब्रह्मरथ में बिठा कर राजा ले जाता था और उनके मस्तक पर पटवस्त्र बाँधता था। बताया है कि उज्जयिनी और पाटलिपुत्र में होने वाली काव्यकारपरीक्षा और शास्त्रपरीक्षा का जिक्र किया है। ऐसी शास्त्रार्थसभाओं को राजशेखर ने ब्रह्मसभा कहा है।

आधुनिक काल में शास्त्रार्थ शब्द शास्त्रीय बहस के अर्थ में कदाचित् उस समय प्रचलित हुआ, जब ऋषि दयानंद ने अपने दिग्विजय का अभियान चलाया। शंकराचार्य के द्वारा सारे देश में जो शास्त्रार्थ किये गये उनका वर्णन भी अनेक काव्यों या शंकराचार्य के जीवनचरितों में शंकरदिग्विजय के रूप में किया गया है। विचारों के द्वारा संसार को जीता जा सकता है यह विचार हमारे यहाँ रहा है। इस वैचारिक दिग्विजय की अवधारणा के पीछे एक चिंतक या ऋषि को सम्राट् मान कर सम्मान देने का भाव है और यह मान्यता भी कि - वादे जायते तत्त्वबोधः - एक सार्थक बहस तत्त्वज्ञान और मुक्ति का उपाय बनती है।

अध्याय 2

बहस को ले कर बहस - शास्त्रार्थ की सैद्धान्तिकी

भारत में न केवल बहस के आयोजन की एक सुव्यवस्थित व सुदीर्घ परंपरा रही है, बहस की सैद्धान्तिकी का भी निरूपण यहाँ विशद रूप में दाशनिक ग्रंथों में या स्वतंत्र रूप से लिखे गये ग्रंथों में किया गया। बहस के प्रयोजन के ले कर दो प्रस्थान बहुत पहले से चल पड़े - एक में केवल बहस के लिये बहस की जाती थी, दूसरे में प्रतिवादी को सद्बुद्धि देने या अपने मत का प्रचार करने के लिये बहस की जाती थी। बौद्ध दार्शनिक आर्यदेव ने

तो दोनों ही पक्षों का विरोध किया है, उनका कहना है कि तथागत का नैरात्म्य सिद्धान्त ऐसा है कि वह स्वतः विरोध को नष्ट कर देता है, उसके प्रचार के लिये बहस करने की आवश्यकता ही नहीं है।

बहस की सैद्धान्तिकी का सर्वप्रथम निरूपण गौतम ने अपने न्यायसूत्र में किया है। न्यायसूत्र न्यायदर्शन का आकर ग्रन्थ है। इसमें न्याय दर्शन के सोलह पदार्थ बताये गये हैं - प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, तर्क, अवयव, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान। यद्यपि इन सोलह तत्त्वों में वाद (बहस) भी एक तत्त्व है, पर प्रमाण और प्रमेय इन दो को छोड़ कर शेष तेरह तत्त्वों का भी सीधा सम्बन्ध वाद या बहस की प्रविधियों से है, तथा प्रमाण और प्रमेय का भी परोक्ष रूप से वाद से सम्बन्ध है ही। वास्तव में तो पूरा न्यायदर्शन वाद या बहस का दर्शन है। इसलिये इसका एक नाम वादशास्त्र भी माना गया। वाद में निपुण नैयायिकों या अन्य दर्शनों के तार्किकों के लिये वादीभसिंह (वादीरूपी इभों या हाथियों के सिंह), वादीन्द्रसूरि आदि नाम इसी तरह रखे गये।

वाद या बहस की सैद्धान्तिकी पर स्वतन्त्र रूप से लिखा हुआ पहला ग्रन्थ धर्मकीर्ति का वादन्याय है। धर्मकीर्ति के पूर्व हुए दिग्गज बौद्ध दार्शनिकों में असंग तथा वसुबन्धु इस विषय पर चर्चा कर चुके थे। धर्मकीर्ति को बौद्धधर्म और दर्शन के प्रति आस्था रखने वाले सुधीसमाज में इसलिये भी विशेष आदर के साथ स्मरण किया जाता है कि उन्होंने नागार्जुन के बाद वैदिक दर्शनों के आचार्यों को बहस में विकट भिड़ंत दी। धर्मकीर्ति ने यों तो गौतम, भर्तृहरि उद्योतकर जैसे महान् दार्शनिकों से दो दो हाथ अपने ग्रन्थों में ही किये हैं, पर प्रत्यक्ष शास्त्रार्थ में भी मंच पर उतर कर वे अपनी प्रखर प्रतिभा का लोहा मनवाते रहे होंगे, इसीलिये तिब्बती दन्तकथाओं में उनका शास्त्रार्थ शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट इन दोनों महान् दार्शनिकों के साथ भी करा दिया गया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। कुमारिल भट्ट धर्मकीर्ति से कुछ पहले के हैं और शंकराचार्य उनके बाद हुए।

धर्मकीर्ति के बाद वाद या बहस के शास्त्र पर शास्त्रीय ग्रन्थ लिखने वाले दूसरे बड़े दार्शनिक उदयनाचार्य हैं। वादशास्त्र पर रचे उनके ग्रन्थ का नाम न्यायपरीक्षा या बोधसिद्धि है। पन्द्रहवीं शताब्दी में शंकरमिश्र मिथिला के उद्भूट नैयायिक तथा कवि हुए, उनके अनेक ग्रन्थों में एक वादविनोद भी है। वाद या बहस के स्वरूप और सिद्धान्तों पर पुस्तक लिखने की परंपरा आधुनिक काल तक चली आई है। बहस की आचारसंहिता तथा नियमावली को ले कर रचा गया एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथ तार्किकरक्षा है। बीसवीं शताब्दी में महामहोपाध्याय राजेश्वरशस्त्री द्राविड ने - शास्त्रार्थविचारपद्धति नामक निबंध इसी दृष्टि से लिखा।

वाद शब्द का प्रयोग सिद्धान्त या मत के अर्थ में भी होता रहा है, न्याय और वैशेषिक दर्शनों के ही कतिपय सिद्धान्तों को वाद कहा गया - जैसे आरम्भवाद, प्रामाण्यवाद आदि। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गदाधर भट्टाचार्य एक बड़े नैयायिक हुए, जिन्होंने अपने ग्रन्थों के नाम वाद जोड़ कर रखे, जैसे - व्युत्पत्तिवाद,

शक्तिवाद, विषयतावाद, मुक्तिवाद या विधिवाद। इनके इसप्रकार के नौ ग्रन्थों का प्रकाशन वादवारिधि नाम से हुआ।

आयुर्वेदशास्त्र के आद्य आचार्य चरक ने बहस के लिये सम्भाषा शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार सम्भाषा दो प्रकार की है - सन्धायसम्भाषा तथा विग्रह्यसम्भाषा। सन्धाय सम्भाषा खुली चर्चा है जो सन्धि की स्थिति में अर्थात् सौहार्दपूर्ण या सद्भावनामय वातावरण में की जाती है। इसमें चर्चा करने वाले दोनों पक्ष सत्य के सन्धान में एक दूसरे की मदद करते हैं। विग्रह्य सम्भाषा विवाद है, जिसमें हार - जीत का भी महत्व होता है। धर्मकीर्ति ने अपने वादन्याय में इन्हीं को तत्त्वबुभुत्सुवाद और विजिगीषुवाद कहा है।

चरक जिस तरह रोगनिवारण के लिये नुस्खे बताते हैं, उसी तरह विग्रह्य सम्भाषा में विजयी होने के नुस्खे भी वे बताते हैं। यही नहीं वे विजय की कामना वाले को निर्देश भी देते हैं कि किस तरह वह पहले से ही प्रतिपक्षी के कमजोर और मजबूत बिन्दुओं को समझ ले, और जैसे ही उसका कमजोर पक्ष सामने आये उस पर वार करने को तैयार रहे।

चरक ने बहस के सिद्धान्तों पर विचार करते हुए बताया कि अनुमान में हेतु दो तरह का होता है - सद्हेतु और असद्हेतु। असद् हेतु हेत्वाभास बन जाता है। और हेत्वाभास का प्रयोग करने वाला वादी या प्रतिवादी बहस में पराजित होता है। हेत्वाभास के चरक ने तीन प्रकार बताये - वर्णसम, साध्यसम तथा वर्ण्यसम।

न्यायदर्शन और वादशास्त्र

ऊपर कहा जा चुका है कि न्यायसूत्रकार गौतम ने अपने दर्शन में जो सोलह पदार्थ या दार्शनिक कोटियाँ मानीं -उन में सारे के सारे पदार्थ वाद या बहस से ही संबंध रखते हैं। इस तरह पूरा का पूरा न्याय दर्शन वाद या बहस का दर्शन है। पहले दो पदार्थ प्रमाण और प्रमेय बहस की विषयवस्तु से संबंधित हैं, शेष सारे पदार्थ बहस की प्रविधि से। ज्ञान का साधन प्रमाण है, कुछ दर्शनों में ज्ञान ही प्रमाण कहा गया है। प्रमेय ज्ञान का विषय है।

अनुमान में दो अनिवार्य तत्त्व हैं - हेतु और साध्य। अनुमान का साधक हेतु है और जिसका अनुमान करना है वह साध्य है। हेतु के लिये तीन शर्तें निर्धारित हैं - पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व। जिस में हेतु की उपस्थिति पर सन्देह हो, पर जिसमें हेतु की उपस्थिति सिद्ध की जानी हो, वह पक्ष है। जिसमें हेतु की उपस्थिति अनिवार्यतः देखी जाती रही है, वह सपक्ष है और जिसमें हेतु का होना सम्भव न हो वह विपक्ष है।

कोई दूर पहाड़ की चोटी पर से धुआँ उठता देखता है। वह अनुमान कर लेता है कि पहाड़ पर आग है। इस अनुमान में धुआँ हेतु है, पहाड़ पक्ष है और अग्नि साध्य है। रसोईघर - जहाँ वह व्यक्ति धुएँ के साथ आग का

पाया जाना बार बार देख चुका है सपक्ष है, और तालाब जैसे पानी से भरे स्थान जिनमें धुएँ के साथ अग्नि नहीं हो सकती विपक्ष हैं। परार्थानुमान चूँकि दूसरे को समझाने के लिये काम में आता है, इसलिये बहस के समय इसका प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है।

सोलह पदार्थों में तीसरा संशय है। परस्पर भिन्न दो पदार्थों में एक ही धर्म प्रतीत होने पर संदेह बना रहे, तो संशय होता है। मान लीजिये यह संशय है कि समाज को चलाने के लिये अहिंसा आवश्यक है या हिंसा। यहाँ समाज को धारण करना समान धर्म है, जिसके अहिंसा और हिंसा दोनों में होने को ले कर संदेह किया जा रहा है। संशय के द्वारा ही दर्शन की सारी कोटियों की परीक्षा संभव है, इसलिये संशय बहस और दर्शन का आद्य तत्त्व है। गौतम ने अपने न्यायसूत्र में अपने दर्शन व अन्य दर्शनों की समस्त कोटियों का परीक्षण संशय के द्वारा कैसे किया जा सकता है, इसका बहुत विस्तार से प्रतिपादन किया है। इसी तरह प्रयोजन भी बहस या दर्शन में एक अनिवार्य कोटि है, किसी भी प्रतिपाद्य या वाद के प्रयोजन अथवा किसी पदार्थ की प्रयोजनीयता का परीक्षण इसके द्वारा संभव है। प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय ये कोटियाँ संशय और प्रयोजन के पश्चात् आती हैं।

बहस को आगे बढ़ाने वाली विचारों की सीढियाँ अवयव हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उपनय, दृष्टान्त और निगमन - ये पाँच अवयव हैं। कोई भी वक्ता या वादी अपनी बात इन पाँच खंडों में विभक्त कर के ही अच्छी तरह कह सकता है। साध्य का कथन प्रतिज्ञा है। इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिये जो उदाहरण हम दे सकते हैं, उनके सामान्य धर्म हेतु कहे जायेंगे। हेतु की संगति बिठाना उपनय है। इस हेतु के कथन के साथ प्रतिज्ञा को दोहरा कर उदाहरण की संगति बिठाना उपनय है। हेतु और उपनय दोनों के लिये उदाहरण देना दृष्टान्त है। यह उदाहरण साध्य के साधर्म्य से युक्त होना चाहिये। निगमन निष्कर्ष है।

मान लीजिये गाँधी दर्शन पर बहस हो रही है, और कोई वादी गाँधी दर्शन में अहिंसा को परम धर्म बता रहा है। तब उसके कथनों में पाँचों अवयव इस प्रकार बनेंगे -

गाँधी-दर्शन में अहिंसा परम धर्म है। (प्रतिज्ञा)

क्योंकि अहिंसा समाज को धारण करती है। (हेतु)

जो समाज को धारण करता है, वह परम धर्म है, (उपनय)

जैसे सत्या। (दृष्टान्त)

जो समाज को धारण करता है, वह परम धर्म है, अहिंसा समाज को धारण करती है, इसलिये अहिंसा परम धर्म है। (निगमन)

बहस में अनुमान प्रमाण का प्रयोग बहुत करना होता है। वादी प्रतिवादी को समझाता है, इस समझाने के लिये जिस वाक्य का प्रयोग वह करता है उसे अनुमान वाक्य कहते हैं। अनुमान वाक्य में भी बहस के ये ही पाँचों सोपान बिठाये जाते हैं। अनुमान में तर्क भी होता है। तर्क दो तरह से हो सकता है, कोई अपने आप से तर्क करता है, दूसरे को समझाने के लिये तर्क करता है। अपनी समझ से लिये तर्क पूर्वक वह अनुमान बनाता है, तो स्वार्थानुमान होगा, दूसरे को समझाने के लिये अनुमान का प्रतिपादन करता है, तो परार्थानुमान होगा। परार्थानुमान में नैयायिकों ने इन पाँच अवयवों का प्रयोग आवश्यक माना। धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध दार्शनिकों की दृष्टि में इस तरह एक ही बात की लकीर पीटना बचकानापन है। इन्होंने पंचावयव के ढाँचे का खंडन किया।

अज्ञात तत्त्व के विषय में जिज्ञासा होने पर कारण की संगति बिठाते हुए ऊह या छानबीन करना तर्क है। तर्क करते हुए पक्ष और प्रतिपक्ष का विचार कर सत्य का निर्धारण करना निर्णय है।

बहस के लिये गौतम ने कथा शब्द का प्रयोग किया है। जिसमें विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कई वक्ता संवाद, वाद, और विवाद करें, वह कथा है। गौतम ने कथा के तीन प्रकार बताये - वाद, जल्प और वितंडा। प्रमाण और तर्क के साधन से अपने सिद्धान्त के समर्थन में उक्त पाँचों अवयवों का प्रयोग करते हुए पक्ष और प्रतिपक्ष का विचार वाद है। इसी वाद में छल, जाति और निग्रहस्थान का आश्रय ले कर स्वपक्ष की स्थापना करते हुए परपक्ष का खंडन किया जाये, तो वह जल्प हो जाता है। यही जल्प केवल प्रतिपक्ष के खंडन मात्र करते हुए किया जाये, स्वपक्ष की स्थापना कहीं भी न हो, तो वितंडा हो जाता है। इनमें वाद को गौतम ने संवाद के अर्थ में लिया है - किसी भी शास्त्रीय विषय पर गुरु तथा शिष्य के बीच या दो मित्रों के बीच चर्चा वाद है। यहाँ मतभेद हो सकते हैं, पर वे सहमति तक पहुँचने के लिये व्यक्त किये जाते हैं। जल्प परस्पर विरोधी दो प्रस्थानों को मानने वालों के बीच होने वाली बहस है। इसमें दोनों पक्ष एक घमासान में गुत्थमगुत्था हो जाते हैं, विवाद का स्तर ऐसा होने लगता है कि दो सेनायें संग्रामभूमि में एक दूसरे से टक्कर ले रही हों। वितंडा छीछालेदर है। इसमें सारे मतों की धज्जियाँ उड़ाता चला जाता है अपना कोई सिद्धान्त उसका नहीं होता।

अनुमान का प्रतिबन्धक अर्थात् अनुमिति की प्रक्रिया में रोड़ा अटकाने वाला ज्ञान हेत्वाभास है। दुष्ट हेतु को भी हेत्वाभास कहा गया है। हेत्वाभास का भी निवारण यथार्थ ज्ञान से हो जाता है। कोई कहे कि तालाब के पानी के ऊपर आग जल रही है, तो यह अनुमान हेत्वाभास से ग्रसित है, क्यों कि भौतिक संसार में पानी के ऊपर आग नहीं जल सकती (कविता या कल्पना के संसार में अलबत्ता खूब लग सकती है)। यथार्थ ज्ञान इस हेत्वाभास को काट देता है।

हेत्वाभास पाँच हैं - सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत। बाद के नैयायिकों ने इनके नाम असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम तथा कालात्यायापदिष्ट - इस रूप में रखे हैं। प्रशस्तपाद ने इन हेत्वाभासों के प्रभेद भी बताये हैं। बाद के नैयायिकों ने भी हेतु और हेत्वाभास के अनेक भेद प्रभेद बताये।

उद्योतकर तो कहते हैं कि काल, वस्तु और पुरुष के भेद से हेत्वाभासों के असंख्य भेद हो जाते हैं, इनमें से कुछ हजार तक भेदों की गिनती तो उद्योतकर तथा दूसरे नैयायिकों ने की भी है।

हेतु अपने पक्ष के साथ अन्य में भी संगत हो जाये, तो सब्यभिचार या अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। यदि वह पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहे या केवल पक्ष में रहे तो अनैकान्तिक होता है। जैसे कहा जाय कि शब्द नित्य है, क्यों कि वह आकाश की तरह प्रमेय है। यहाँ प्रमेयत्व हेतु बताया गया। नित्य पदार्थ भी प्रमेय हो सकते हैं और अनित्य पदार्थ भी। इस तरह प्रमेयत्व हेतु सपक्ष (आकाश) और विपक्ष दोनों में है, पक्ष में तो वह हो ही सकता है।

साध्यविपर्यय में व्यास हेतु विरुद्ध है, अर्थात् जिस बात को सिद्ध करना है, हेतु उसी के विरोध में जा पड़े, तो विरुद्ध हेत्वाभास होगा। उदाहरण के लिये - शब्द नित्य है, क्यों कि वह उत्पन्न होता है, जैसे आत्मा - यह अनुमान वाक्य बनाया जाये, तो इसमें जन्यत्व या उत्पन्न होना शब्द की नित्यता को साधन के लिये हेतु बताया गया, वह नित्यता का साधक न हो कर उल्टे अनित्यता का साधक है, क्यों कि जो उत्पन्न होता है, वह विनष्ट होता है।

जब हेतु साध्य और साध्य के अभाव दोनों से सम्बन्धित लगने लगे, तो यह प्रकरणसम होगा। जैसे - पहाड़ पर धुआँ उठ रहा है, अतः वहाँ आग है, क्यों कि पहाड़ पर तो सिवाय चट्टानों के और कुछ नहीं है।" इस कथन में पहाड़ पर केवल चट्टानों का ही होना अग्नि की उपस्थिति के बजाय उसकी अनुपस्थिति का अनुमापक बन जायेगा। साध्याविशिष्ट या साध्य के साथ न रहने वाला हेतु साध्यसम है। इसे असिद्ध भी कहा गया है। हेतु का पक्ष में न होना साध्यसम है। आश्रयासिद्ध, स्वरूपसिद्ध और व्याप्यात्वसिद्ध इसके भेद हैं। पक्ष ही साध्यशून्य हो तो, हेतु कालात्यायपदिष्ट (कालातीत, बाधित) हो जाता है।

हेत्वाभासों के समान ही तर्काभास और उसके भेदों का भी विवेचन नैयायिकों ने किया है। वक्ता या वादी को जो अर्थ अभिप्रेत नहीं है, उस को उसके कथन पर थोप कर प्रतिवादी अपना मनमाना अर्थ निकाल डाले, तो छल होता है। छल के तीन प्रकार हैं - - वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल।

वाक्य से सीधे वक्ता का अनभिप्रेत अन्य अर्थ निकाल कर प्रतिवादी उसे आरोपित करता है, तो वाक्छल है। जैसे कोई कहे कि राधावल्लभ जी साहित्याकाश के नवग्रह हैं - तो उसके कहने का आशय तो यह है कि राधावल्लभ जी साहित्य रूपी आकाश के नये सितारे हैं, पर प्रतिवादी नवग्रह का अर्थ नौ ग्रह निकाल कर कहता है कि राधावल्लभ तो एक है, वह नौ ग्रह कैसे बन सकता है? तो आप क्या यह कहना चाहते हैं कि वह साहित्य में ग्रह की तरह लग गया है? यह वाक्छल है। कविता में तो यही वक्रोक्ति अलंकार बन जाता है। जैसे राधाकृष्ण

का संवाद - "कौन तुम, घनस्याम हम , तो बरसो कित जाय" - यहाँ कृष्ण अपना परिचय देते हुए अपना नाम घनश्याम बताते हैं, तो राधा काला बादल यह अन्य अर्थ ले कर उन्हें लताड़ती हैं। सामान्य छल वहाँ होता है, जहाँ जब अतिसामान्य अर्थ को जोड़ कर असम्भव कल्पना कर ली जाये। जैसे वादी कहे कि धर्मान्धता हमारे समय का कटु सत्य है। तो प्रतिवादी उसे पटकनी देने के लिये कहने लगे कि आपका मतलब है कि सत्य कटु ही होता है, तब फिर आप जिस मिष्टान्न की मीठा है, मीठा है, यह कह कर तारीफ कर रहे हैं, वह भी कटु सत्य हुआ। लाक्षणिक अर्थ को न ले कर अभिधेय को ही पकड़ कर प्रतिवादी वादी का खंडन करे तो उपचार छल होता है। वादी कहे कि काले धंधे वाले स्याह को सफेद करने में लगे हुए हैं, तो प्रतिवादी कहने लगे - धंधा भी काला या गोरा होता है क्या, और स्याह सफेद कैसे हो सकता है, कोई कौवा क्या सफेद बनाया जा सकता है? इत्यादि।

प्रतिवादी साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा वादी की धुनाई करने लगे, तो यह जाति है, वादी जो कहता है, प्रतिवादी उसका उलट बताने लगता है। जैसे गाँधी दर्शन पर चल रही बस में ही अहिंसा परमधर्म है, वादी की इस प्रतिज्ञा के हेतु, उपनय, दृष्टान्त और निगमन पर विचार न कर के प्रतिवादी कहने लगे कि हम तो कहेगें कि हिंसा ही परम धर्म है (प्रतिज्ञा), क्यों कि उससे अन्यायी और आततायी का संहार होता है (हेतु) जिससे अन्यायका नाश करे वह परम धर्म है, जैसे युद्ध (दृष्टांत), हिंसा से अन्यायी और आततायियों का संहार होता है (उपनय), अतः हिंसा परम धर्म है (निगमन)- इस तरह पंचावयव बता कर वादी की घेराबंदी करने लगे, तो यह जाति है। जाति के चौबीस प्रकार गौतम ने बताये हैं।

धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों ने दर्शन के स्तर पर बहस के ढाँचे में वितंडा को अस्वीकृत कर दिया। छल और जाति को भी वे नहीं मानते। इधर न्यायसूत्रकार गौतम कहते हैं कि तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिये जल्प और वितंडा का प्रयोग भी कभी कभी आवश्यक हो जाता है, जैसे बीज से फूटे अंकुर की रक्षा के लिये कँटीली शाखाओं का आवरण (ट्री गार्ड) आवश्यक होता है। पारम्परिक न्यायदर्शन की परंपरा में कई बार वाद को एक युद्ध की तरह समझ लिया गया, लड़ाई आर पार की करनी होती है, और आज कल चुनावों में उम्मीदवारों के बीच होने वाली बहस की तरह जीत के लिये जो भी हथकंडा अपनाया पड़े जायज हो जाता है।

न्यायसूत्र के रचयिता गौतम जिसे वाद (मैत्रीपूर्ण चर्चा, परिचर्चा) कहते हैं, उसके लिये बौद्ध दार्शनिकों ने प्रपंचकथा तथा विस्तरकथा - ये नाम दिये हैं। वाद शब्द बौद्ध दार्शनिकों ने बहस के अर्थ में प्रयोग कर के उसे इसी अर्थ में उसे प्रसिद्धि दे दी। अनुमान का दूषित हेतु दूषित हो, तो वह हेत्वाभास कहलाता है।

हेत्वाभास के कई प्रकार पारम्परिक न्याय और बौद्ध न्याय में बताये जाते रहे हैं। पर बहस की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पदार्थ है निग्रहस्थान। निग्रह का अर्थ है - धरपकड़। वादी और प्रतिवादी तर्क के जंजाल में कहाँ कब किसको दबोच लें - यह निग्रहस्थान समझ कर वे जान सकते हैं। गौतम के न्यायसूत्र के अनुसार तो

निग्रहस्थान प्रतिपक्षी की पराजय की कुंजी है। उन्होंने निग्रहस्थान को पराजयवस्तु कहा है। बौद्ध नैयायिकों ने निग्रहस्थान को इतना महत्त्व नहीं दिया। धर्मकीर्ति जैसे दार्शनिक निग्रहस्थान को पराजयवस्तु नहीं, पराजयाधिकरण मानते हैं, अर्थात् केवल निग्रहस्थान बता देने प्रतिपक्षी की हार नहीं हो जाती, प्रतिपक्षी की हार का इससे सिलसिला माना जा सकता है। न्यायसूत्र की परम्परा में बाईस निग्रहस्थान माने गये, जो इस प्रकार हैं –

प्रतिज्ञाहानि - प्रतिदृष्टान्त के धर्म को स्वीकार कर लेना, शब्द नित्य है, यह पक्ष लिया, फिर प्रतिदृष्टान्त घट का धर्म अनित्यत्व स्वीकार कर लिया, तो शब्द को अनित्य मान लिया। इससे प्रतिज्ञा, जो तथ्य सिद्ध करना है, उसकी क्षति हुई।

प्रतिज्ञान्तर - प्रतिज्ञात अर्थ का खंडन होने पर अन्य धर्म से उसका वैकल्पिक निर्देश।

प्रतिज्ञाविरोध- प्रतिज्ञा और हेतु का विरोध।

प्रतिज्ञासंन्यास - पक्ष का प्रतिषेध होने पर प्रतिज्ञा का त्याग।

हेत्वन्तर - हेतु को भिन्न विशेषण दे कर हेतु में परिवर्तन।

अर्थान्तर - प्रकृत अर्थ से असंबद्ध अर्थ का प्रतिपादन।

निरर्थक - निरर्थक वर्णों का प्रयोग।

अविज्ञातार्थ - प्रतिवादी के द्वारा तीन बार दोहराने पर भी वादी उसके आशय को न समझ पाये।

अपार्थक - वाक्य में पदों (शब्दों) का पौर्वापर्य सही न होने से अर्थ गड़बड़ा जाना।

अप्राप्तकाल -पंचावयव वाक्य के पाँच अवयवों के क्रम का निर्वाह न होना।

न्यून- पंचावयव वाक्य के पाँच अवयवों में किसी एक या एकाधिक अवयव की कमी।

अधिक - पंचावयव वाक्य के अतिरिक्त हेतु और उदाहरण देना।

पुनरुक्त - कही बात को अन्यशब्दों से दोहराना।

अननुभाषण - प्रतिवादी के वाक्य का खंडन करने के पूर्व उसे दोहरा न पाना।

अज्ञान - परिषद् (निर्णायकजन) तो समझ लें, पर प्रतिवादी के द्वारा तीन बार दोहराये गये वाक्य को वादी न समझ पाये।

अप्रतिभा - उत्तर न सूझ पाना।

विक्षेप - मुझे अभी जरूरी काम है, उसे निपटा कर फिर आ कर प्रतिवादी को उत्तर दूँगा - यह कह कर वादी का खिसक लेना।

मतानुज्ञा - प्रतिवादी के द्वारा अपने पक्ष में बताये दोष को स्वीकार कर आपके पक्ष में भी यही दोष है - यह कह कर अपना दोष उस पर मढ़ना। मुहावरे में इसे उभयतः पाशा रज्जुः - दोनों तरफ से गले में फंदा आ पड़ना - भी कह जाता है।

पर्यनुयोज्योपेक्षण - वादी या प्रतिवादी अपने प्रतिपक्षी के निग्रहस्थान को न पकड़ पाये, तब निग्रहस्थान करने वाला अपनी चूक तो स्वयं स्वीकार न करेगा, परिषद् या निर्णायकों को बताना होगा कि किसकी पराजय हुई।

निरनुयोज्यानुयोग - निग्रहस्थान हुआ ही नहीं है, फिर भी कह उठना कि प्रतिपक्षी ने चूक की है।

अपसिद्धान्त - दूसरे के सिद्धांत को मनमाने ढंग से अपने मत अनुकूल ढाल कर अपव्याख्या करना

हेत्वाभास - पाँच प्रकार के हेत्वाभास ऊपर बताये गये हैं।

धर्मकीर्ति ने निग्रहस्थान के दो ही भेद माने हैं - असाधनांगवचन और अदोषोद्धावन। पहला वादी के लिये है दूसका प्रतिवादी के लिये है। यदि वादी अपने प्रतिपाद्य का साधन या हेतु बताने से चूक जाये तो असाधनांगवचन होता है। यदि प्रतिवादी उसके प्रतिपादन में जो चूक हो गई, उसे बताने से चूक जाये, तो अदोषोद्धावन नामक निग्रहस्थान हो जाता है। पहले असाधनांगवचन के पाँच प्रकार धर्मकीर्ति ने बताये हैं। इनमें अच्छी बहस के मानदंड और खराब बहस के नमूने दोनों सामने आ जाते हैं। उदाहरण के लिये असाधनांगवचन के पाँचवे भेद के बारे में धर्मकीर्ति ने जो उदाहरण दिया है उसे देखें। कल्पना करें कि नैरात्म्य के सिद्धान्त (आत्मा नहीं है) पर वाद या बहस होने को है। प्रतिवादी उसके सामने उत्तर देने के लिये तैयार बैठा है। अब वादी की तैयारी कमजोर है, नैरात्म्यसिद्धि में जो हेतु देना चाहिये उसे न दे कर वह अनावश्यक चर्चा करने लगता है। वह कहता है - आत्मा नहीं है यह हम बौद्धों का मत है। आप जानते भी हैं कौन हैं बौद्ध? बौद्ध हैं वे जो बुद्ध के वचनों में विश्वास रखते हैं। अब आप पूछेंगे बुद्ध कौन हैं? तो जान लीजिये कि भगवान् बुद्ध वे हैं जिनके उपदेश सुन सुन कर कच्चान, मोग्गलान ये सब भिक्षु बन गये और भदंत अश्वघोष ने जिनके विषय में लिखा। अब अब कहेंगे कि भदंत अश्वघोष कौन हैं? तो बताये देते हैं भदंत अश्वघोष हैं वे महान् कवि जिन्होंने बुद्धचरित, सौंदरनंद महाकाव्य और शारिपुत्रप्रकरण नामक को नाटक लिखा और राष्ट्रपाल नाटक भी उन्हीं का लिखा हुआ है। आप जानते भी हैं किस तरह का नाटक है राष्ट्रपाल? इसके आरंभ में ही प्रस्तावना है, प्रस्तावना में नान्दी का गीत है।

उतना कह कर वादी ताल दे दे कर नान्दी की गीत गाने लग जाता है। धर्मकीर्ति जो स्वयं प्रखर दार्शनिक और निष्ठावान् बौद्ध हैं, उन्होंने अपने समय में तर्क और ज्ञान में कमजोर उत्साही बौद्धमतावलम्बियों

को इस स्तर की बहस करते देखा होगा। वे कहते हैं कि जब वादी इस स्तर पर उतर आये और गाना बजाना करने लगे, तो वाद को (आजकल के न्यायालयों में सुनवाई संसद में सत्र के स्थगन की तरह) स्थगित कर देना चाहिये।

धर्मकीर्ति केवल निग्रहस्थान या वादी अथवा प्रतिवादी की कमजोरी सामने आ जाने से इनकी पराजय नहीं मानते। न्याय दर्शन के अनुसार तो निग्रहस्थान या चूक हुई तो पराजय का एक बिन्दु जुड़ गया। असाधनांगवचन या अपनी स्थापना का हेतु अथवा युक्ति न बता पाना वादी की कमजोरी हुई। इस वादी ने अपनी साध्य स्थापना के साधक अथवा हेतु को स्पष्ट नहीं कहा - यह प्रतिवादी को बताना चाहिये, प्रतिवादी भी इसे सत्यापित न कर पाया कि वादी के कथन में खोट है। दोनों की कमजोरी हुई। न्यायसूत्र के प्रणेता गौतम का तो मत यह प्रतीत होता है कि इस आधार पर दोनों को पराजित घोषित कर टंटा खतम कर देना चाहिये। धर्मकीर्ति ऐसा नहीं मानते। धर्मकीर्ति सारे निग्रहस्थानों के मामले में यही सिद्धांत स्थिर करते हैं, केवल अदोषोद्भावन हो जाने से प्रतिवादी की हार नहीं हो जाती।

यहाँ एक बड़ी रोचक और जटिल स्थिति भी बनती है। मान लीजिये वादी के प्रतिपादन में कोई निग्रहस्थान हो गया। अब प्रतिवादी को चाहिये था कि वह उसे पकड़ लेता और बताता कि वादी से चूक हुई। पर प्रतिवादी भी चूक बताने में चूका, और अब प्रतिवादी की चूक को पलट कर वादी बताने लग जाये, कि इसने मुझ से जो चूक हुई उसे बताया ही नहीं; तो इसमें किसका पलड़ा भारी माना जायेगा? वादी प्रतिवादी की चूक तो बता रहा है, पर उसके साथ खुद अपनी पोल भी खोल कर सामने रख रहा है। यहाँ भी न्यायूत्रकार गौतम दोनों की हार बता कर मामला रफा दफा करना चाहते हैं, जब कि धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्य इसमें दोनों को ही अविजित मानते हैं। अनेक निग्रह स्थानों के बारे में धर्मकीर्ति का मत है कि सारे निग्रहस्थान सदैव त्याज्य नहीं होते। कभी कभी तो उल्टे उनका इस्तेमाल किया जाना जरूरी हो जाता है। उदाहरण के लिये पुनरुक्त। वाद या बहस करने वालों में एक पहले कही हुई बात को दोहराये, तो सामने बैठा प्रतिपक्षी तुरत कह उठेगा कि आप वही बात फिर से दोहरा रहे हैं, यह आप की कमजोरी हुई - और निर्णायक भी इसे पुनरुक्ति करने वाले की पराजय का एक बिंदु मान लेंगे। धर्मकीर्ति कहते हैं कि ऐसा नहीं है, कई बार पुनरुक्ति आवश्यक होती है।

धर्मकीर्ति स्वयं बहुत अच्छे कवि हैं। यह एक दुर्लभ संयोग है-- कोई नैयायिक भी हो और कवि भी हो। पुनरुक्त कई बार दोष न हो कर गुण हो जाता है - यह सिद्ध करने के लिये उन्होने अपने स्वयं के रचे ये पद्य उद्धृत किये हैं -

हसति हसति स्वामिन्युच्चैः रुदत्यभिरोदिति
कृतपरिकरः स्वेदोद्गारं प्रधावति धावति।
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति
धनलवपरिक्रीतं यन्त्रं प्रणत्यति नृत्यति॥

मालिक हँसता है, तो वह हँसता है ठहाका मार कर
मालिक रोता है तो वह रो पड़ता है बुझा फाड़ कर
चाकर क्या है रुपये के टुकड़े से खरीदी हुई मशीन है
मालिक नाचता है, वह ठुमका लगा लगा कर नाचता है।

इस श्लोक में हँसता है, रोता है, नाचता है - इनकी पुनरावृत्ति हुई है।

धर्मकीर्ति अप्राप्तकाल (अनुमान वाक्य में प्रतिज्ञा, हेतु, उपनय, दृष्टांत और निगमन इस पाँचों अवयवों का क्रम टूटना या न्यूनाधिक्य होना) आदि को निग्रहस्थान नहीं मानते, क्योंकि वे इन पाँचों को ही अनावश्यक मानते हैं।

शास्त्रार्थ या वाद में वादी तथा प्रतिवादी एक दूसरे के खंडन में जिस तरह आपत्ति दर्ज कराते थे उससे संस्कृत में अनेक मुहावरे भी चल पड़े, जो शास्त्रीय ग्रन्थों की भाषा में मिर्च-मसाले का काम करते हैं। इन्हें दोष या आपत्ति कहा जाता है। इस तरह की कुछ आपत्तियाँ हैं- अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असंभव, अनवस्था (आनन्त्य), चक्रीयता, इष्टापत्ति और उभयपाशा रज्जु। इनमें से अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव - ये तीनों लक्षण या किसी भी कोटि को परिभाषित करने की प्रक्रिया के दोष हैं। किसी वस्तु का लक्षण उसके अलावा अन्य वस्तु पर भी लागू होने लगे, तो यह अतिव्याप्ति है। जैसे गाय का लक्षण बनाया कि चार पाँवों वाला, दो सींगों वाला व दूध देना वाला पशु गाय है। यह लक्षण भैंस, भेड़ या बकरी आदि पर भी लागू हो सकता है, इसलिये इसमें अतिव्याप्ति है। लक्षण उस वस्तु पर ही लागू न हो, और किसी पर लागू भले हो जाए, तो यह अव्याप्ति है। जैसे गधे का लक्षण कोई यह करे कि दो सींगों वाला पशु गधा है। लक्षण में ऐसी बात कही गई हो, जो संभव न हो, तो यह असंभव है। अनवस्था या आनन्त्य दोष वहाँ होता है, जहाँ इससे यह हुआ, उससे फिर यह - इस तरह का सिलसिला समाप्त ही न हो। चक्रीयता में यह सिलसिला घूम फिर कर वहीं आ जाता है, जहाँ से आरंभ किया था। जिस बात को साबित करने चले थे, उस पर तर्क करने के क्रम में वही खंडित हो जाए, तो इष्टापत्ति होती है। उभयपाशा रज्जु की चर्चा ऊपर मतानुज्ञा नामक निग्रह स्थान के संदर्भ की गई है।

वाद या बहस की प्रविधियों व उसके सांस्थानिक स्वरूप पर जितना विचार हमारे देश में किया गया, वह बेजोड़ है। वाद के जितने प्रकार यहाँ व्यवहार में अपनाये गये, वे भी अपने वैपुल्य तथा वैविध्य में अतुल्य हैं। महाभारत में यक्ष का पांडवों से प्रश्न या योगवासिष्ठ में राक्षसी कर्कटी का किरातराजा से सृष्टि के रहस्यों के विषय में प्रश्नोत्तर भी वाद का एक रूप है। अगले अध्यायों में वाद के कतिपय विशिष्ट प्रसंगों पर चर्चा की जायेगी।

अध्याय 3

ब्रह्मज्ञानियों के बीच स्त्री और शास्त्रार्थ में स्त्री का हस्तक्षेप

जैसा पहले अध्याय में चर्चा की गई है, उपनिषदों में आत्मा, सृष्टि, जीवन और मनुष्य को ले कर न केवल गहरा चिंतन ऋषियों ने प्रस्तुत किया, जीवन और जगत् के मूलभूत प्रश्नों को ले कर बहस करने का सिलसिले को उन्होंने अनूठा रूप दिया। प्राचीन काल से ही उपनिषद् गहन चिंतन और तत्त्वान्वेषण के पर्याय बन गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन व सृष्टि की गूढ समस्याओं पर विचार करने वाले किसी भी ग्रंथ को उपनिषद् कहा जाने लगा। श्रीमद्भगवद्गीता को भी उपनिषद् ही कहा गया है। कभी कभी यह भी हुआ कि परवर्ती ग्रंथकारों ने किसी विचार धारा विशेष या संप्रदायविशेष के प्रचार के लिये ग्रंथ लिखा और उसे लोकप्रिय बनाने के लिये उपनिषद् का नाम दे दिया। अकबर के शासनकाल में इस्लाम-दर्शन पर अल्लोपनिषद् लिखा गया।

संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकों से सीधे संबंध को देखते हुए ऊपर उल्लिखित बारह उपनिषद् प्राचीन और प्रामाणिक कहे जा सकते हैं। इनमें भी ऐतरेय, बृहदारण्यक, छांदोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि और केन - ये उपनिषद् प्राचीनतम हैं। इनका वैदिक संहिताओं से संबंध इसप्रकार है-

ऋग्वेद- ऐतरेय और कौषीतकि।

शुक्ल यजुर्वेद- ईशावास्य, बृहदारण्यक।

कृष्ण यजुर्वेद - कठ, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर।

सामवेद- छांदोग्य, केन।

अथर्ववेद- मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य।

उपनिषद् बोलचाल की भाषा में जीवन के गूढ रहस्यों का निरूपण करते हैं। उनमें प्राचीन काल के ऋषियों, विचारकों या बुद्धिजीवियों के बीच खुली बहस के जीवंत नमूने हैं। इस बहस या वार्तालाप की शैली में तत्त्वनिरूपण करने के लिये उपनिषदों की परंपरा में कुछ विशिष्ट प्रविधियों का विकास किया गया, जो इसप्रकार हैं - (1) प्रश्न- किसी जिज्ञासु का ज्ञानी के पास जा कर प्रश्न करना, अथवा ज्ञानी व्यक्ति का ही शास्त्रार्थ के लिये प्रश्न उठाना। प्रश्नोपनिषद् और केनोपनिषद् का प्रारंभ ही प्रश्नों से होता है। (2) अनुप्रश्न- उठाये गये प्रश्नों से जुड़े या उनके उत्तर से पुनः उठने वाले प्रश्नों का प्रतिपादन अनुप्रश्न है। उपनिषदों में अनुप्रश्न बार बार आते हैं। (3) अनतिप्रश्न- प्रश्न यदि इतने अधिक हो जायें कि उनसे विषय का विवेचन आगे बढ़ने के स्थान पर उलझ जाये,

तो प्रश्नों की शृंखला का निवारण अनतिप्रश्न है। (आगे याज्ञवल्क्य के शास्त्रार्थ की चर्चा है, इसमें गार्गी जटिल से जटिल प्रश्न उठाती चली जाती है। याज्ञवल्क्य अनुभव करते हैं कि और आगे प्रश्नों की परंपरा चलती रही, तो विवेचन उलझ जायेगा, और वे गार्गी को प्रश्न करने से रोक देते हैं।) (4) व्याख्या- किसी सिद्धांत को समझाना। (5) अनुव्याख्या- व्याख्या पर पुनः स्पष्टीकरण। (6) दृष्टांत- सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत उदाहरण। (7) आख्यायिका- सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिये किसी प्राचीन कथा को उद्धृत करना। (8) ऊर्ध्वप्रवचन- ज्ञानी का जिज्ञासु से यह पूछना कि जिस विषय पर वह ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उस पर पहले से उसे कितनी जानकारी है। आगे चल कर न्यायदर्शन में अनुमानवाक्य के लिये प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपनय तथा निगमन - इन पाँच अवयवों की परिकल्पना की गई, जिनका परिचय पिछले अध्याय में दिया गया है। वास्तव में पंचावयव वाक्य उपनिषदों की इसी तर्कप्रणाली का विकास है।

छांदोग्य उपनिषत् के छठे अध्याय की श्वेतकेतु कथा में इन बहुविध शैलियों के समन्वित प्रयोग का सुंदर उदाहरण है, तथा चरक ने जिसे संधायसम्भाषा कहा है - अर्थात् किसी को तत्त्वज्ञान कराने के लिये बहस छेड़ना - इसका भी यह संवाद उत्तम उदाहरण है।

गुरुकुल में बारह वर्ष अध्ययन कर के अपने आपको बहुत ज्ञानी और बड़ा मानता हुआ श्वेतकेतु जब पिता के पास लौट कर आया, तो पिता ने उससे पूछा- हे सोम्य, तुम जो अपने को महामना और बहुत ज्ञानी मान रहे हो, तो क्या तुमने उस तत्त्व के विषय में पूछा है, जिसे सुन लेने से सब कुछ सुन लिया जाता है, जिसको मान लेने से सब कुछ मान लिया जाता है और जिसको जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है? श्वेतकेतु ने कहा- "हे भगवन्, वह तत्त्व कैसा होता है?" पिता ने कहा- "हे सोम्य, जिसप्रकार एक मिट्टी के ढेले को जान लेने से मिट्टी से बनी सब वस्तुओं को मनुष्य समझ सकता है कि वे उसी मिट्टी के अलग अलग नाम हैं, ऐसा ही सब वस्तुओं के पीछे वह एक तत्त्व है। इस प्रकार श्वेतकेतु से बार बार प्रश्न करते हुए अनेक रोचक उदाहरण देते हुए परमतत्त्व का प्रतिपादन यहाँ उद्दालक ऋषि ने किया है।

उपनिषदों की विषयप्रतिपादनशैली और अनुसंधान के लिये विकसित प्रविधियों का उपयोग आगे चल कर समस्त शास्त्र परंपराएँ करती रहीं। इनसे किसी भी सिद्धांत की स्थापना में उसके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष- इन दोनों पक्षों पर विचार को शास्त्रों में आवश्यक माना गया।

उपनिषत्काल में घटित याज्ञवल्क्य और गार्गी का संवाद इस पृष्ठभूमि में शास्त्रार्थ का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। यह बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में वर्णित है। प्राचीन साहित्य में शास्त्रार्थ का इतना विस्तृत सजीव दस्तावेज कदाचित् और कोई नहीं मिलेगा। इस पूरे प्रकरण को शंकराचार्य ने अपने भाष्य में संवादप्रकरण कहा है।¹ जनक ने बहुदक्षिण नामक यज्ञ (जो शंकराचार्य के अनुसार अश्वमेध भी हो

1- बृह. उप. शांकर भा.पृ. 782

सकता है,) किया, कुरुपांचाल के सारे ब्रह्मज्ञानियों का जमावड़ा हुआ। जनक के मन में यह जिज्ञासा हुई कि इन अनूचानों (ज्ञानियों) में अनूचानतम (सबसे बड़ा ज्ञानी) कौन है? उन्होंने एक हजार गायें अलग करवा कर उनके सींगों में हर सींग में पाँच पाँच पाद² (75-75 ग्राम) सोना बँधवाया और घोषणा की, आप लोगों में जो ब्रह्मिष्ठ (सबसे बड़ा ब्रह्मज्ञानी) हो, वह ये गायें हाँक ले जाये। कोई ब्रह्मज्ञानी यह चुनौती स्वीकार करने को आगे न आया, तो याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा सामश्रवा, ये गायें हाँक कर ले चल।

यह वह काल है जब मनुस्मृति लिखी नहीं गई है, ज्ञानी के पास ज्यादा धन संपदा होना ऐसा कुछ अनर्थ नहीं मान लिया गया है³ ज्ञानी को निर्धन रहना चाहिये यह आदर्श नहीं है, बल्कि आदर्श यह है कि उसे ठाठ से रहना चाहिये। याज्ञवल्क्य ज्ञानी थे, और उनके पास संपदा भी थी। यह बात दूसरी है कि उन्हें इस संपदा से रस्ती भर भी लगाव नहीं रहा, बाद में उन्होंने इसे छोड़ भी दिया।

अस्तु, जैसे ही याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा सामश्रवा, ये गायें हाँक कर ले चल, दूसरे ज्ञानी जन क्रुद्ध हो गये, और बोले कि याज्ञवल्क्य, तुमने अपने आप को सबसे बड़ा ज्ञानी कैसे मान लिया? वैदेह जनक के होता अश्वल ने याज्ञवल्क्य से पूछा - याज्ञवल्क्य, तुम अपने आप को सबसे बड़ा ब्रह्मज्ञानी कैसे मान रहे हो? याज्ञवल्क्य ने कहा - यहाँ कोई सबसे बड़ा ब्रह्मज्ञानी हो, तो उसे हम नमन करते हैं। हमारा तो मतलब ये गायें ले जाने से है।

तब शास्त्रार्थ आरंभ हुआ, जो ईसा के लगभग एक हजार साल पहले होने वाला उस समय का सबसे बड़ा शास्त्रार्थ था। यह सारा प्रसंग भारतीय दर्शन, तत्त्वज्ञान और चिंतन की परंपरा में अनूठा है। इसमें जिस शब्दावली का प्रयोग हुआ है, वह अत्यंत जटिल पारिभाषिक शब्दावली है, जो बाद के दर्शन से लुप्त होती गई। इस समय यह अत्यंत सरल सरस वाद विवाद रहा होगा, आज इसका एक एक शब्द अब जैसे ताले में बंद लगता है। उसकी कुंजी पाना भी अब आसान नहीं रह गया है। इसकी कुंजी हमारे हाथ में नहीं है, इसलिये यह कहीं उलटबासी जैसा लगता है, कहीं मात्र शब्दों का जंजाल और कहीं केवल वागाडंबर या शब्दों का खिलवाड़। पर यह संसार के इने गिने सबसे सुचिंतित संवादों में एक है। यदि इसकी कुंजी से हम इसे खोलते जाएं, तो यही एक बेहतरीन कविता जैसे लगने लगेगा - एक अद्भुत दार्शनिक काव्य।

2.-15 ग्राम, पाद - पल का चतुर्थ भाग, पल उ 4 कर्ष, 1 कर्ष उ 16 माशा, पल उ 64 माशा, 60 ग्राम, पाद उ 15 ग्राम) कुल 75 - 75 ग्राम

3.- अनर्थो ब्राह्मस्यैष यद्वित्तनिचयो महान्। मनु.

जैसे याज्ञवल्क्य ने यह कहा कि हमारा तो मतलब ये गायें ले जाने से है, अश्वल ने उनको शास्त्रार्थ में धर दबोचने में जुट गये। उन्होंने पूछा - याज्ञवल्क्य, तुम यह बताओ कि कि जब यह सब कुछ मृत्यु से घिरा है, मृत्यु से आच्छादित है, तो यजमान मृत्यु की इस जकड़न से छुटकारा कैसे पा सकता है?

याज्ञवल्क्य ने कहा - होता, ऋत्विक्, अग्नि और वाक् - इनके द्वारा यजमान मृत्यु की जकड़न से छुटकारा कैसे पा सकता है। वाक् ही यज्ञ की होता अतिमुक्ति है। यह जो वाक् है, वही यह अग्नि है।

अश्वल ने फिर पूछा - याज्ञवल्क्य, यह बताओ कि जब यह सब कुछ अहोरात्र (दिन और रात) से व्याप्त है, अहोरात्र सब में पिरोया हुआ है, तो यजमान अहोरात्र की इस जकड़न से कैसे छुटकारा पाता है?

याज्ञवल्क्य ने कहा - अध्वर्यु, ऋत्विक्, चक्षुष् (आँखें) और आदित्य इनके द्वारा यजमान मृत्यु की जकड़न से छुटकारा पा सकता है। चक्षुष् यज्ञ का अध्वर्यु है, और यह जो चक्षुष् है, वही आदित्य है, वही अध्वर्यु है, वही मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है।

अश्वल ने फिर पूछा - याज्ञवल्क्य, यह बताओ कि जब यह सब कुछ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष से व्याप्त है, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष सब में पिरोये हुए हैं, तो यजमान की इनकी जकड़न से कैसे छुटकारा पाता है?

याज्ञवल्क्य ने कहा - उद्गाता, ऋत्विक्, वायु और प्राण - इनके द्वारा यजमान मृत्यु की जकड़न से छुटकारा पा सकता है। प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है, तो यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, वही मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है।

अश्वल ने फिर पूछा - याज्ञवल्क्य, यह बताओ कि जब यह अंतरिक्ष सारा का सारा अनतिक्रम्य है, तो वह आगे बढ़ना क्या है, जिससे यजमान स्वर्गलोक तक पहुँच जाता है।

याज्ञवल्क्य ने कहा - ब्रह्मा, ऋत्विक्, मन और चन्द्रमा इनके द्वारा आगे बढ़ना होता है, इससे यजमान स्वर्गलोक तक पहुँच जाता है। मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है, यह जो मन है, वही चन्द्रमा है, यह जो चन्द्रमा है, वही मन है, वही मुक्ति है, ये ही अतिमोक्षा सम्पद् हैं।

अश्वल ने फिर पूछा - याज्ञवल्क्य, यह बताओ कि कितनी ऋचाओं से होता इस यज्ञ में यज्ञ करेगा?

याज्ञवल्क्य ने कहा - तीन से।

अश्वल ने फिर पूछा - कौन सी हैं वे तीन ऋचाएँ?

याज्ञवल्क्य ने कहा - अनुवाक्या, याज्या और शस्या - ये तीन ऋचाएँ हैं।

अश्वल ने पूछा - वह इन तीनों ऋचाओं से क्या यजन करता है?

याज्ञवल्क्य ने कहा - जो कुछ भी यहाँ प्राणभृद् है उसका यजन करता है।

अश्वल ने पूछा - याज्ञवल्क्य, यह बताओ कि आज यह अध्वर्यु कितनी आहुतियों से इस यज्ञ में हवन करेगा?

याज्ञवल्क्य ने कहा - तीन आहुतियों से।

अश्वल ने पूछा - कौन सी हैं वे तीन आहुतियाँ?

याज्ञवल्क्य ने कहा - तीन आहुतियाँ ये हैं - पहली हवन की जाने पर उज्वलित होने वाली, दूसरी हवन करने पर अतिनेदित होने वाली और तीसरी हवन करने पर अतिशयित होती होने वाली। जो हवन करने पर उज्वलित होती हैं, उनसे देवलोक को जीतता है, क्योंकि जो दीप्त होता है, उसे देवलोक कहा जाता है। जो जो हवन करने पर अतिनेदित होती हैं, उनसे पितृलोक को जीतता है, यह पितृ लोक (यहाँ से) ऊपर है। जो हवन करने पर अतिशयित होता है, उनसे मनुष्य लोक को जीत लेता है, मनुष्य लोक नीचे है।

अश्वल ने फिर पूछा - याज्ञवल्क्य, यह बताओ कि कितनी वस्तुओं से यह ब्रह्मा देवताओं से साथ दक्षिण की ओर से यज्ञ की रक्षा करेगा?

याज्ञवल्क्य ने कहा - एक वस्तु से।

अश्वल ने पूछा - वह एक वस्तु क्या है?

याज्ञवल्क्य ने कहा - मन ही वह एक वस्तु है। मन अनन्त है। विश्वेदेवा अनन्त हैं। इनसे वह यजमान अनन्त हो कर लोक को जीत लेता है।

अश्वल ने फिर पूछा - याज्ञवल्क्य, यह बताओ कि यह उद्गाता कितने स्तोत्रियों (स्तुत्यों) का आज इस यज्ञ में सवन करेगा?

याज्ञवल्क्य ने कहा - तीन स्तोत्रियों का।

अश्वल ने पूछा - वे तीन स्तोत्रिय कौन हैं?

याज्ञवल्क्य ने कहा - वे तीन पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या ये तीन स्तोत्रिय हैं। प्राण ही पुरोनुवाक्या है, अपान ही याज्या है, व्यान ही शस्या है।

अश्वल ने पूछा - यजमान इनसे किसकी जय करता है?

याज्ञवल्क्य ने कहा - पुरोनुवाकी से पृथिवी लोक को जीतता है, याज्या से अंतरिक्ष लोक को जीतता है, और शस्या से द्युलोक को जीतता है।

यह सुन कर अश्वल चुप हो कर बैठ गये।

अश्वल के साथ शास्त्रार्थ का प्रायः अविकल अनुवाद यहाँ नमूने के रूप में दिया गया है, इसी तरह जारत्कारव आर्तभाग, भुज्यु लाह्यायनि, हैनमुष चाक्रायण और कहोल कौषीतकेय ने याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ किया, उनके प्रश्नों और याज्ञवल्क्य के उत्तरों का यहाँ संक्षेप दिया जा रहा है।

जारत्कार के बेटे आर्तभाग के प्रश्न ग्रह (ग्रहण करने वाले) तथा अतिग्रह (जिसे ग्रहण किया जाय) के विषय में थे। उनके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने बताया - आठ ग्रह हैं और आठ ही अतिग्रह हैं, इनके नाम व कार्य जो याज्ञवल्क्य ने बताये उनका सार यह है -

ग्रह	अतिग्रह	कार्य
प्राण	अपान	सूँघना
वाक्	नाम	नामों का ग्रहण
जिह्वा	रस	आस्वाद
चक्षुष् (नेत्र)	रूप	देखना
श्रोत्र (कान)	शब्द	सुनना
मन	काम (कामना)	इच्छा
हस्त	कर्म	काम करना
त्वक् (चमड़ी)	स्पर्श	छूना

इसके आगे आर्तभाग के प्रश्न और याज्ञवल्क्य के उत्तर उस प्रकार थे प्रश्न - यह सब कुछ जब मृत्यु का अन्न है, तो वह देवता कौन है, जिसका अन्न मृत्यु है।

उत्तर - अग्नि मृत्यु है, वह जल का अन्न है, जल अग्नि को जीत लेता है।

प्रश्न -जब मनुष्य मर जाता है, तो क्या उसके प्राण बाहर निकलते हैं?

उत्तर - नहीं, उसी में लीन हो जाते हैं, क्योंकि मृतक साँस लेता है, साँस भीतर जाती है, भीतर समाई साँस के साथ वह मर जाता है।

प्रश्न - वह क्या है, जो मृतक को छोड़ता नहीं है।

उत्तर - नाम। नाम अनन्त है, विश्वेदेव अनंत हैं, उनसे वह अनंत लोक को जीत लेता है।

प्रश्न - मृतक की वाक् अग्नि में समा जाती है, प्राण वात में, नयन आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशा में, शरीर पृथ्वी में, आत्मा आकाश में, रोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में, रक्त और रेतस् जल में समा जाते हैं। तब यह पुरुष कहाँ रहता है?

इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा था - सौम्य आर्तभाग, अपना हाथ मेरे हाथ में दो, हम दोनों ही केवल इसे जानेगें। आर्तभाग और याज्ञवल्क्य सभा से बाहर निकल गये, और बाहर उन्होंने परस्पर विमर्श किया। उन्होंने वापस लौट कर जो कहा वह कर्म था, जिसकी प्रशंसा की वह कर्म था। कर्म दो प्रकार का होता है - पुण्य कर्म और पापकर्म। पहले से पुरुष पुण्यवान् होता है, दूसरे से पापी। इतना सुन कर जरत्कारु का पुत्र आर्तभाग चुप हो गया। इसके बाद लाह्यायन के बेटे भुज्यु ने याज्ञवल्क्य का सामना करने के लिये आगे आया। उसका प्रश्न था - मान लो हम मद्र देश में घूमते घामते पहुँच गये। वहाँ हम किसी पतंजल के घर जा पहुँचे। अब इस पतंजल की एक बेटी है, उसे पर गंधर्व का आवेश हो गया है। जिस गंधर्व का इस लड़की पर आवेश है उसी से हम पूछते हैं कि तू है कौन, तो वह कहता है - मैं अंगिरस का पुत्र सुधन्वा हूँ। अब हम उससे इस लोक के अंत के विषय में पूछते हैं, और उससे कहते हैं कि पारिक्षित कहाँ चले गये। तो हे याज्ञवल्क्य, वहीं प्रश्न मैं तुम से करता हूँ कि पारिक्षित कहाँ चले गये।

याज्ञवल्क्य ने बताया कि पारिक्षित वहीं चले गये, जहाँ अश्वमेध यज्ञ करने वाले पहुँचते हैं। बत्तीस देवर्थों के बराबर यह लोक है, उसके चारों ओर उससे दुगनी धरती है, इस धरती के चारों ओर उससे दूना समुद्र है, इन दोनों के चारों ओर जितनी छुरी धार बारीक होती है या मक्खी के पंख जितने पतले होते हैं, उनके बराबर दूरी पर आकाश है। इन्द्र ने सुपर्ण बन कर इन देवलोक, धरती, समुद्र और आकाश को वायु के लिये दे दिया, वायु ने इन्हें अपने भीतर धारण किया और वहाँ पहुँच गया, जहाँ अश्वमेध करने वाले पहुँचते हैं, इसलिये वायु ही व्यष्टि है वायु ही समष्टि। जल मृत्यु को जीत लेता है।

यह सुन कर लाह्यायन का बेटा भुज्यु चुप हो गया।

चक्रायण के बेटे उष ने साक्षात् या अपरोक्ष रहने वाले ब्रह्म अथवा आत्मा के संबंध में प्रश्न किया। याज्ञवल्क्य ने कहा कि - जो दृष्टि का भी द्रष्टा है, उसे देखा नहीं जा सकता है, जो सुनने की क्रिया का श्रोता है, उसे सुना नहीं जा सकता, जो मति का मन्ता है, उसका मनन नहीं किया जा सकता। जो जानने की प्रक्रिया का ज्ञाता है, उसे जाना नहीं जा सकता। वही सबके भीतर विद्यमान आत्मा है। कौषीतकि के पुत्र कहोल का प्रश्न व बहस भी साक्षात् या अपरोक्ष रहने वाले ब्रह्म को ले कर थी। याज्ञवल्क्य ने बताया कि सबके भीतर पिरोया हुआ आत्मा भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा, मृत्यु से परे है, इसे जान लेने पर ब्रह्मज्ञानी पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठ जाता है, संन्यस्त हो जाता है। पुत्रैषणा से वित्तैषणा होती है, वित्तैषणा से लोकेषणा। इन को तोड़ कर ब्रह्मज्ञानी पांडित्य को भी तज कर बच्चे की तरह रहे, फिर पंडित और बच्चा बन कर रहने की इन अवस्थाओं को भी त्याग कर मुनि बन कर रहे, फिर मुनि के मौन और अमौन दोनों को त्याग कर जिस स्थिति में वह पहुँचता है, वह स्थिति उसी स्थिति के जैसी होती है। इस स्थिति के अतिरिक्त सब कुछ दुःख है।

याज्ञवल्क्य की वाणी में ज्ञान की गरिमा ही नहीं, तपे हुए अनुभव का सच भी था। सभा उनके सामने हतप्रभ थी।

यही क्षण था जब जनक की सभा के सारे ज्ञानियों गुणीजनों की बोलती बंद हो चुकी देख कर गार्गी वाचक्रवी याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने को उठी। यदि उससभा में अन्य कोई ब्रह्मवादिनियाँ थीं, तो उनका उल्लेख उपनिषद् नहीं करता। इस जमावड़े के बीच अकेली गार्गी ने याज्ञवल्क्य पर प्रश्नों के प्रहार करना शुरु किया। उसके प्रश्नों का ढंग अलग था।

गार्गी ने प्रश्न किया - याज्ञवल्क्य, यह सब कुछ किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञवल्क्य ने कहा - जल में।

गार्गी ने पूछा - याज्ञवल्क्य, यह बताओ कि यदि यह सारा संसार पानी में ओतप्रोत है, पानी किसमें ओतप्रोत है?

सृष्टि के आरंभ में जल ही जल था। परमतत्त्व ने पहला तत्त्व जल के रूप में रचा - अप एवादौ ससर्ज - उपनिषद् के इस सिद्धांत से गार्गी परिचित थी।

याज्ञवल्क्य ने कहा - गार्गी, पानी हवा में ओतप्रोत है।

तब गार्गी लगातार प्रश्न करती चली गई, और उसके प्रश्नों के उत्तर में याज्ञवल्क्य बताते गये कि हवा अंतरिक्ष में, अंतरिक्ष गंधर्वलोक में, गंधर्वलोक आदित्यलोक में, आदित्यलोक चंद्रलोक में, चंद्रलोकमें, चंद्रलोक

नक्षत्रलोक में, नक्षत्रलोक देवलोक में, देवलोक इंद्रलोक में इंद्रलोक प्रजापति लोक में और प्रजापति लोक ब्रह्मलोक में ओतप्रोत है। अंत में यह पूछने पर कि ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है याज्ञवल्क्यने कहा - गार्गी अतिप्रश्न मत कर, अतिप्रश्न करने से कहीं तेरी खोपड़ी न फट जाए, तू जिस देवता को ले कर प्रश्न कर रही है, वह अनतिप्रश्न्या है। तू ने अतिप्रश्न के द्वारा देवता से अतिप्रश्न कर डाला है। केवल गार्गी ही थी जिससे याज्ञवल्क्य को यह कहना पड़ा कि अतिप्रश्न न करे। गार्गी भी जानती थी कि वह प्रश्नों की परम सीमा तक पहुँच चुकी है और उसके अंतिम प्रश्न पर याज्ञवल्क्य यही कह सकते हैं, जो उन्होंने कहा। अतिप्रश्न करने से कहीं तेरी खोपड़ी न फट जाए- याज्ञवल्क्य के मुँह से ऐसा वाक्य सुन कर गार्गी ने आज की महिलाओं की तरह यह नहीं कहा कि यह कौन सा तरीका है एक भद्र महिला से बात करने का? वास्तव में यह पूरा शास्त्रार्थ गार्गी और याज्ञवल्क्य के बीच एक खेल था - याज्ञवल्क्य जानते थे कि गार्गी क्या पूछेगी और गार्गी जानती थी कि याज्ञवल्क्य उत्तर में क्या कहेंगे। यही नहीं, गार्गी एक तरह से इस पूरे शास्त्रार्थ को ही नियंत्रित कर रही थी, और उपस्थित ब्रह्मज्ञानी भी गार्गी की क्षमता को मान रहे थे। अतः भले ही गार्गी उस पूरे ब्रह्मोद्य में अकेली स्त्री हो, पर उपस्थित समाज ने उसके प्रति आदर था।

गार्गी तर्क को उस स्थल तक ले जाती है, जो आगे चल कर वाद की दृष्टि से अनवस्था कहा गया, जहाँ प्रश्न का अन्त नहीं होता, क्योंकि प्रश्न ऐसी भूलभुलैया में ले जा कर पटक देते हैं, जिसमें वादी और प्रतिवादी भटकते रह जाते हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, उपनिषदों के शास्त्रार्थ या ब्रह्मोद्यों की एक तकनीक भी यहाँ याज्ञवल्क्य और गार्गी के इस संवाद से सामने आती है - वह है अनतिप्रश्न। आगे चल कर शास्त्रों की शब्दावली में इसी का एक रूप अनवस्था भी कहा गया है। जब प्रतिवादी के द्वारा किये जाने वाले प्रश्नों की लड़ी इस तरह गुँथती चली जाये, कि उसका कहीं अंत होता न लगे, तो अतिप्रश्न या अनवस्था हो जाती है।

जब गार्गी वाचक्रवी के अंतिम प्रश्न को ही तकनीकी आधार पर याज्ञवल्क्य ने अतिप्रश्न कह कर खारिज कर दिया, तो वह चुप हो गई। तब उद्दालक आरुणि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ के लिये उठा। उसने कहा - याज्ञवल्क्य मान लो कि हम यज्ञविधि का अध्ययन करने के लिये मद्र देश में रह रहे, जिस घर में हम रह रहे हैं वह पतंजल काप्य का घर है। इस काप्य पतंजल की पत्नी में गंधर्व का आवेश है। उससे जब हम पूछते हैं कि तू है कौन? तो वह कहता है - मैं कबंध आथर्वण हूँ। फिर वह काप्य से और यज्ञ करने वालों से पूछता है - काप्य, क्या तू जानता है वह सूत्र जिसमें यह लोक और परलोक सारे प्राणी गुँथे हुए हैं? पतंजल काप्य कहता है - भगवन्, मैं नहीं जानता। फिर वह काप्य से और यज्ञ करने वालों से कहता है - काप्य, क्या तू उस अंतर्यामी को जानता है, जो इस लोक को और परलोक को और सब प्राणियों को उनके भीतर रह कर नियंत्रित करता है? तो पतंजल काप्य ने कहा - भगवन्, मैं नहीं जानता। तब फिर वह गंधर्व पतंजल काप्य और यज्ञ करने वालों से कहता है -हे

काप्य, जो उस सूत्र को जानता है, और उस अंतर्यामी को जानता है, वही ब्रह्मविद् है, वही लोकविद् है, वहीं देवविद् है, वहीं वेदविद् है, वही आत्मविद् है और वहीं सर्वविद् है। इतना बता कर उद्दालक आरुणि ने याज्ञवल्क्य से पूछा - क्या तुम उस सूत्र और उस अंतर्यामी को जानते हो?

याज्ञवल्क्य ने उद्दालक के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा- गोतम, वायु ही वह सूत्र है, जिससे यह लोक, परलोक, सारे प्राणी गुँथे हुए हैं। वायु के न रह जाने पर कोई भी पुरुष पुरुष न हो कर प्रेत हो जाता है। फिर अंतर्यामी का स्वरूप बताते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा - जो इस पृथिवी पर रह कर इस पृथिवी के भीतर भी व्याप्त है, पर जिसे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी को भीतर ही भीतर नियंत्रित करता है, वही तुम्हारा अमृतमय आत्मा अंतर्यामी है। जो जल के ऊपर रह कर जल के भीतर व्याप्त है, जिसे जल नहीं जानता, जो जल को भीतर ही भीतर नियंत्रित करता है, वही तुम्हारा अमृतमय आत्मा है।

यही बात याज्ञवल्क्य अग्नि, अंतरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिक्, चन्द्रमा और तारे, आकाश, तमस्, तेजस्, सभी प्राणियों वाक्, नेत्र, श्रोत्र, मनस्, त्वक्, विज्ञान या बुद्धि और रेतस् के विषय में कहते हुए बताते हैं कि वही आत्मा अंतर्यामी है, वह अमृत है, अदृष्ट हो कर द्रष्टा है, अश्रुत हो कर भी श्रोता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मनन करने वासला नहीं, उसके अतिरिक्त अन्य कोई विज्ञाता नहीं, उसके अतिरिक्त जो कुछ है वह आर्त है।

तब गार्गी वाचक्रवी फिर प्रश्न करने को उठी, उसने सब ज्ञानी जनों से कहा - हे महानुभावो, मैं इस याज्ञवल्क्य पर दो प्रश्नों से प्रहार करूँगी। यदि यह उन दोनों प्रश्नों के भी उत्तर दे देगा, तो आप लोगों के इस ब्रह्मोद्य को अन्य कोई ज्ञानी नहीं जीत पायेगा।

ज्ञानी जनों ने कहा - गार्गी, पूछो।

गार्गी ने कहा - याज्ञवल्क्य, जैसे काशी या विदेह का कोई धनुर्धारी धनुष पर डोरी चढा कर अपने शत्रु को बीधने के लिये एक साथ दो बाण हाथ में रख कर तैयार हो, उसी तरह मैं दो प्रश्नों के तीर तुम्हारे ऊपर छोड़ रही हूँ। तुम उनके उत्तर दो।

याज्ञवल्क्य ने कहा - पूछो गार्गी।

गार्गी ने पूछा - याज्ञवल्क्य, जो कुछ द्युलोक के ऊपर है और धरती के नीचे है, जो कुछ द्युलोक और पृथिवी के बीच में है, जिसे भूत, भविष्य और वर्तमान कहा जाता है, वह किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञवल्क्य ने कहा - गार्गी, जो जो कुछ द्युलोक के ऊपर है और धरती के नीचे है, जो कुछ द्युलोक और पृथिवी के बीच में है, जिसे भूत, भविष्य और वर्तमान कहा जाता है, वह आकाश में ओतप्रोत है।

गार्गी ने कहा - याज्ञवल्क्य तुम्हें नमन करती हूँ, जो तुमने मेरे समक्ष इस तत्त्व की व्याख्या की, अब तुम दूसरे प्रश्न के लिये तैयार रहे।

याज्ञवल्क्य ने कहा - गार्गी, पूछो।

गार्गी ने पूछा - याज्ञवल्क्य, जो कुछ द्युलोक के ऊपर है और धरती के नीचे है, जो कुछ द्युलोक और पृथिवी के बीच में है, जिसे भूत, भविष्य और वर्तमान कहा जाता है, वह आकाश में ओत-प्रोत है, यह माना, पर आकाश किस में ओतप्रोत है?

याज्ञवल्क्य ने कहा - गार्गी, वह अक्षर तत्त्व है, ब्रह्मज्ञानी उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं - वह अस्थूल है, अनणु, अह्रस्व है, अदीर्घ है अलोहित है, अस्नेह है, अच्छाय है, तमोरहित है, वायु से रहित है, आकाश से रहित है, संग से रहित है, रस से, गंध से, चक्षुष् से, श्रोत्र से, वाक् और मन से, तेजस् से, प्राण से परे है। वह भीतर भी नहीं है बाहर भी नहीं है, वह किसी का भोग नहीं करता, कोई उसका भोग नहीं करता। गार्गी, इसी अक्षर तत्त्व के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा टिके हुए हैं। वह न स्थूल है न सूक्ष्म, न छोटा है, न बड़ा, न ह्रस्व है न दीर्घ, अन्धकार से रहित भी है और छाया से रहित भी है,

वह सब इंद्रियों से परे है, वाणी से परे है, मन से परे है, तेजस् और प्राण से परे है, न वह भीतर ह, न बाहर, इस अक्षर के शासन में सूर्य और चंद्रमा टिके हुए हैं, द्यावापृथिवी चल रहे हैं, इसा से निमेष, मुहूर्त, दिन रात, मास, ऋतुएँ और संवत्सर का चक्र चल रहा है नदियाँ वह रही हैं, इसको जाने बिना मनुष्य जितना भी कुछ कर ले, सब निरर्थक है, जो इसे जाने बिना इस लोक से प्रयाण कर जाता है, वह कृपण है, जो इसे जान कर इस लोक से प्रयाण करता है, वही ब्राह्मण है। वह स्वयं दिखता भी है, देखता भी है - द्रष्टा भी वह, दृश्य भी वह। श्रव्य भी वह, श्रोता भी वह। मन्ता (मानने वाला भी वह) और मन्तव्य भी वह। इसके अलावा कोई विज्ञाता नहीं, हे गार्गी, इसी अक्षर में यह आकाश ओत प्रोत है।

याज्ञवल्क्य का यह सारा विवेचन ध्यान से सुन कर गार्गी ने कहा - हे ज्ञानी जन, आप लोगों के लिये इतना ही काफी होगा कि इस याज्ञवल्क्य को नमन कर के आप अपना पीछा छुड़ायें, आप लोगों में से इस ब्रह्मोद्य को जीत सकने वाला और कोई नहीं है।

गार्गी इस शास्त्रार्थ में अग्रणी या निर्णायक भूमिका का निर्वाह करती है। उस समय तके बड़े बड़े ज्ञानी जन याज्ञवल्क्य के आगे जटिल प्रश्न उठा कर मौन हो चुके थे, गार्गी का याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने को उद्यत होना एक सामान्य घटना थी, किसी ने यह नहीं कहा कि इतने सारे ज्ञानी पुरुषों के बीच एक स्त्री ने ऐसी हिमाकत क्यों की? याज्ञवल्क्य ने गार्गी की चुनौती को स्वीकार किया, महाभारत के भीष्म और आद्य शंकराचार्य की तरह स्त्री का सामना करने से वे हिचकते नहीं थे। (इन के प्रसंगों की चर्चा अगले अध्यायों में की जायेगी।)

गार्गी के इस निर्णायक वक्तव्य के बाद भी शास्त्रार्थ सभा में उपस्थित ज्ञानी जन चुप बैठने वाले तो थे नहीं। विदग्ध शाकल्य ने देवों की संख्या के विषय में प्रश्न और प्रतिप्रश्नों की झड़ी लगा दी।

अंत में जनक के द्वारा भी याज्ञवल्क्य से प्रश्न और प्रतिप्रश्न किये गये। गार्गी ब्रह्मवादिनी थी। उपनिषदों में ही स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी हुआ करती थीं, उसके बाद इस शब्द का प्रयोग प्रायः मिलता नहीं है। गार्गी की तरह एक और ब्रह्मवादिनी का जिक्र याज्ञवल्क्य के प्रसंग में उपनिषत् करते हैं। वह उनकी पत्नी मैत्रेयी है। याज्ञवल्क्य के दो पत्नियाँ थीं मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, जब कि कात्यायनी केवल गृहिणी थी। मैत्रेयी को उपनिषद् ने ब्रह्मवादिनी कहा है, कात्यायनी को स्त्रीप्रज्ञा। मैत्रेयी के साथ बहस के रूप में तो नहीं, पर संवाद के रूप में शास्त्रार्थ याज्ञवल्क्य का चलता रहता था। बृहदारण्यक में दो प्रसंगों में ऐसे संवाद का विस्तार से निरूपण है।

याज्ञवल्क्य स्थान छोड़ कर जा रहे थे, उन्होंने पत्नी मैत्रेयी से कहा कि मैं तो यहाँ से चला, तुम कात्यायनी के साथ रहो, तो तुम्हारे रहने के लिये धन संपदा और सुख सुवधा की व्यवस्था कर दूँगा।

मैत्रेयी ने कहा - भगवन्, यदि यह सारी धरती मेरे लिये धन से परिपूर्ण हो जाये, तब क्या मैं अमृता बन जाऊँगी?

याज्ञवल्क्य ने कहा - जिस तरह संसार में लोगों के पास तरह तरह के उपकरण होते हैं, और वे उनके साथ जीवन बिता लेते हैं, ऐसे ही तुम भी अपना जीवन बिता लोगी, पर धन हो जाने से अमृतपद की आशा तो नहीं करना चाहिये।

इसके आगे मैत्रेयी के साथ याज्ञवल्क्य का लंबा संवाद है, अद्भुत विमर्श जो अज्ञेय के भाषा और काल पर किये गये विमर्श से जुड़ता है।

मैत्रेयी ने कहा - जिससे मैं अमृतपद नहीं पा सकती, उसे ले कर मैं क्या करूँगी? मैत्रेयी का यह बहुशः उद्धृत होने वाला वाक्य है- येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्? जिससे मैं अमृतपद नहीं पा सकती, उसे ले कर मैं क्या करूँगी?

आगे मैत्रेयी कहती है - आप तो अमृतपद के बारे में जो जानते हैं, वह मुझे बताइये।

याज्ञवल्क्य ने कहा - अरे तुम मुझे बहुत प्रिय हो, और प्रिय बात कह रही हो। तो आओ, मेरे पास बैठो, मैं समझाऊँगा और तुम उसे मन में गुनो। परम तत्त्व का विस्तार से निरूपण करने के बाद याज्ञवल्क्य ने जब कहा कि वह इन सब में पिरोया हुआ है और इन सब के साथ ही समाप्त भी हो जाता है, तो मैत्रेयी ने कहा कि यह तो आप मुझे भ्रम में डाल रहे हैं।

याज्ञवल्क्य ने कहा - मैत्रेयी! मैं तुम्हें मोह में नहीं डाल रहा, यह जान लो कि जब तक द्वैत है, जानने वाला अपने को किसी अन्य से कैसे जान सकता है?

गार्गी और मैत्रेयी का विलक्षण बौद्धिक व्यक्तित्व और अपने समय के सबसे बड़े ज्ञानी के साथ संवाद कर सकने का उनका साहस - दोनों पूरी भारतीय शास्त्रार्थ परंपरा के इतिहास में बेजोड़ हैं। मैत्रेयी तो याज्ञवल्क्य के साथ चली गई और गार्गी की फिर कहीं कोई चर्चा फिर हमारे साहित्य में नहीं हुई। इस चर्चा न होने के पीछे भी एक तरह से यह भी वही पुरुषप्रधान व्यवस्था है, जिसकी चर्चा मैंने यहाँ आरंभ में की है।

गार्गी और मैत्रेयी ही नहीं, उपनिषत्काल में अनेक ब्रह्मवादिनियाँ रहीं होंगी। महाभारत में इनमें से दो का विशेष विवरण मिलता है - सुवर्चला तथा सुलभा। सुलभा की कथा महाभारत के शांतिपर्व में 320वें अध्याय में है। वह जनक के ब्रह्मज्ञान की परीक्षा लेती है।

सुवर्चला की कथा महाभारत के शांतिपर्व के 220वें सर्ग में भीष्म के द्वारा कही गई है। उसके पात्र उपनिषत्काल के हैं। सुवर्चला देवल ऋषि की पुत्री थी। रूप और गुणों में वह अनुपम थी। विवाह के योग्य होने पर पिता देवल ऋषि ने उससे पूछा - बेटी, तुझे कैसा पति चाहिये?

सुवर्चला ने कहा - पिता, मैं ऐसे युवक से विवाह करना चाहती हूँ, जो अंधा भी हो और अंधा न भी हो। आप मेरी इच्छा के अनुसार विवाह करना चाहते हैं, तो ऐसे युवक की खोज कीजिये।

पिता ने कहा - बेटी, यह कैसा पागलपन है? ऐसा तो युवक संसार में मिलेगा ही नहीं, जो अंधा हो भी और अंधा न भी हो।

सुवर्चला ने उसी धीर गंभीर स्वर में कहा - इसमें किसी तरह का पागलपन नहीं है। मैंने बहुत सोच विचार कर के यह निश्चय किया है।

देवल एक सद्गृहस्थ थे। सुवर्चला की बात में कोई गहरा तर्क हो सकता है - यह तो वे नहीं समझ पाये, पर विवाह तो करना ही था, इसलिये उन्होंने घोषणा की कि उनकी बेटी अपना वर स्वयं चुनना चाहती है। स्वयंवर के लिये तिथि निर्धारित की गई। सुवर्चला के रूप और गुणों की प्रशंसा सुन कर दूर दूर से ब्राह्मण युवक उससे

विवाह की इच्छा लिये आये। देवल ऋषि ने सबका स्वागत किया। उनको आशा थी कि सुवर्चला अपनी जिद छोड़ कर उनमें से किसी को चुन लेगी, पर सुवर्चला ने उन सब से कह – आप लोगों में से क्या कोई ऐसा है, जो अंधा हो भी और अंधा नहीं भी हो। मैं ऐसे ही युवक से परिणय करूँगी।

सुवर्चला की बात सुन कर विवाह के इच्छुक युवकों ने सोचा कि उनके साथ तो बुरा मजाक किया गया है। वे सब मन मसोस कर वहाँ से चल दिये। देवल ऋषि को भी यह अच्छा नहीं लगा, पर उन्होंने बेटी से कुछ नहीं कहा।

कुछ दिनों बाद उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु को इस घटना का पता चला, तो उसने सुवर्चला से विवाह का निश्चय किया। कुछ दिनों बाद वह देवल ऋषि के आश्रम में जा पहुँचा। देवल ऋषि उसकी बुद्धिमत्ता और सद्गुणों से बहुत प्रभावित हुए, मन ही मन मनाने लगे कि किसी तरह सुवर्चला श्वेतकेतु को पसंद कर ही ले। सुवर्चला ने श्वेतकेतु को संदेहभरी दृष्टि देखा। उसे तुरत निराश कर के भेज देने का मन नहीं हुआ। श्वेतकेतु ने कहा – मुझे विदित हुआ है कि तुम ऐसे युवक से विवाह करना चाहती हो, जो अंधा हो भी और अंधा नहीं भी हो। इसमें कोई संदेह नहीं कि मैं पूरी तरह अंधा हूँ और इसमें भी कोई संदेह नहीं मैं अंधा बिल्कुल भी नहीं हूँ। मुझे विश्वास है कि मैं ही वह व्यक्ति हूँ जिसे तुम खोज रही हो, और मैं भी तुम्हें खोजता यहाँ आ पहुँचा हूँ।

सुवर्चला ने कहा – भद्र, मैं जानना चाहती हूँ कि तुम किस तरह अंधे हो भी और नहीं भी हो।

श्वेतकेतु ने कहा – भद्रे, देखना, सुनना, छूना, सूँघना तथा स्वाद लेना ये पाँच ज्ञानेंद्रियों के कार्य हैं। ये सारे कार्य मेरी ज्ञानेंद्रियाँ अच्छी तरह कर सकती हैं। अतः मैं अंधा नहीं हूँ – यह सत्य है। पर देखी हुई वस्तुओं को मैं नहीं देखता, सुने हुए शब्दों को मैं नहीं सुनता, सूँधी जाने वाली गंध को मैं नहीं सूँघता, आस्वाद्य पदार्थ का आस्वाद मैं नहीं लेता अतः मैं पूरी तरह अंधा हूँ – यह भी ध्रुव सत्य है। लोक संग्रह की दृष्टि से मैं इंद्रियों को अपने अपने काम करने देता हूँ, पर उनके कामों से मैं निर्लिप्त हूँ।

श्वेतकेतु के कथन से सुवर्चला प्रभावित और संतुष्ट हुई। उसने कहा – मैंने तो अपने मन से तुम्हें अपना ही लिया है। मेरे पिता विवाह के अनुष्ठान के द्वारा हमें एक दूसके से मिला देंगे। तुम उनसे मेरा हाथ माँगो।

देवल ऋषि ने बड़ी प्रसन्नता से सुवर्चला का विवाह श्वेतकेतु के साथ कर दिया।

विवाह के पश्चात् सुवर्चला और श्वेतकेतु एक स्तर पर सामान्य गृहस्थों की भाँति सुखपूर्वक रहे, उनके संतानें भी हुई। पर उन दोनों के जीवन का एक स्तर और था, जिस पर पहुँच कर वे सामान्य जगत् के लिये अंधे थे। वे तत्त्वज्ञान की चर्चा निरंतर ही करते रहते थे। सुवर्चला कई बार श्वेतकेतु से बहस करती। एक दिन उसने पति से पूछा – द्विजश्रेष्ठ, तुम बताओ कि तुम हो कौन?

श्वेतकेतु ने परिहास के भाव से कहा – सुवर्चला, तुमने मुझे द्विजश्रेष्ठ कहा है। स्पष्ट है कि तुम जानती हो कि मैं द्विजश्रेष्ठ हूँ, अतः तुम्हारे यह पूछना का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि मैं कौन हूँ।

सुवर्चला ने कहा – नहीं। द्विजश्रेष्ठ संबोधन के लिये तुम्हारी उपाधिमात्र है। मैं जानना चाहती हूँ कि तुम्हारे भीतर रहने वाला कौन है?

श्वेतकेतु ने कहा – मेरे भीतर जो रहता है, वह तो बता नहीं सकता कि वह कौन है। यदि मैं कहूँ कि वह आत्मा हूँ तो मैं शब्द अलग है, और आत्मा अलग। तुम जानती हो कि भाषा हमें उसका बोध नहीं करा सकती जो हम हैं। फिर क्यों पूछती हो?

सुवर्चला ने कहा – मैं इसलिये पूछती हूँ कि मुझे लगता है कि हमारे जीवन का जो सामान्य स्तर है, उसमें रहते हुए हम कहीं भूल न जायें कि हमारी वास्तविकता क्या है।

श्वेतकेतु ने कहा – फिर भी हम सामान्य जीवन को छोड़ नहीं सकते, क्यों कि जनसामान्य हम से अपेक्षा करता है कि हम जीवन की आदर्श पद्धति उसके सामने प्रस्तुत करेंगे।

सुवर्चला जानती थी कि उसे श्वेतकेतु के साथ गृहस्थाश्रम और लोकमर्यादा के दायित्वों का पालन करते जाना है। पर इसके साथ तत्त्वबोध की समस्याओं पर विमर्श भी वह नहीं छोड़ सकती थी। वास्तव में वह श्वेतकेतु से शब्द और अर्थ के संबंधों की तात्त्विक समस्या पर विचार करना चाहती थी। इसलिये उसने फिर चर्चा को मुख्य विषय की ओर लौटाते हुए कहा – मैं यह जानना चाहती हूँ कि शब्द क्या है और अर्थ क्या है।

श्वेतकेतु ने उसके प्रश्न का पहले तो सामान्य उत्तर ही दिया। उसने कहा – सुवर्चला, भाषा में वर्णमाला होती है। वर्णमाला में अलग अलग वर्ण होते हैं। इन वर्णों का एक निश्चित क्रम में उच्चारण करने से शब्द बनते हैं। शब्दों से जो जाना जाता है, वह अर्थ है।

सुवर्चला ने कहा – यह तो विदित सत्य है। पर शब्द और अर्थ के बीच संबंध क्या है?

श्वेतकेतु ने कहा – शब्द और अर्थ के बीच कोई नित्य संबंध नहीं है।

सुवर्चला ने कहा – यदि दोनों में नित्य संबंध नहीं है, तो शब्द अर्थ को बता कैसे देता है। दोनों में कोई संबंध होना चाहिये।

श्वेतकेतु ने कहा – शब्द का आश्रय आकाश है। उसी तरह अर्थ का आश्रय शब्द है। शब्द आकाश में नित्य रहे, यह आवश्यक नहीं। उसी तरह शब्द का अर्थ से संबंध भी नित्य नहीं हो सकता।

सुवर्चला ने फिर तर्क किया – तब तो जिस तरह आकाश बिना शब्द के रह सकता है, उसी तरह शब्द भी अर्थ के बिना रह सकता है। जब हम 'मैं' कहते हैं, तो यह मैं शब्द आत्मा को नहीं बता सकता।

श्वेतकेतु ने कहा – शुभव्रते, जिस तरह हम एक घट को देखते हैं, तो उससे हम उसके तत्त्व – मिट्टी - को जान लेते हैं, जिससे वह बना है। उसी तरह मैं, तुम, आदि शब्दों में वास्तव में हमारा या तुम्हारा स्वरूप स्थित नहीं है। फिर भी इन शब्दों से हम तत्त्व को जान सकते हैं।

इसके आगे सुवर्चला और श्वेतकेतु भाषा और वास्तविकता के संबंध पर चर्चा करते हैं। श्वेतकेतु कहता है – परम सत्ता या परब्रह्म का निर्वचन वाक् या भाषा से नहीं हो सकता, जिस तरह लोकव्यवहार में हम भौतिक वस्तुओं को चर्म चक्षुओं से देखते हैं, उस तरह हम परम सत्ता को इन आँखों से नहीं देख सकते। अतः हम अंधे हैं। पर हम परम सत्ता को ज्ञान की आँखों से देख सकते हैं। भाषा हमें ज्ञान की आँखें दे देती है।

सुवर्चला ने कहा – मैं समझती हूँ कि जिस तरह आकाश का न रूप है, न रंग, न स्थूलता, न कृशता, न इसका कोई आकार है। फिर भी हम आकाश को देखते हैं। इसी तरह हम आत्मा या परम सत्ता को देख लेते हैं। क्योंकि आत्मा भी तो आकाश की तरह अनंत है।

श्वेतकेतु ने कहा – तुमने एकदम सही बात कही है। हम अपनी त्वचा से जिस वायु का स्पर्श करते हैं, वह आकाश में बह रही है, हम अपनी नासिका से जिस गंध को सूँघते हैं, वह भी आकाश में स्थित है, हम आँखों से अंधकार और प्रकाश का अनुभव करते हैं, वे भी आकाश में होते हैं। परम सत्ता चेतनामय है। जिस तरह आकाश शब्द, स्पर्श, रूप, रस या गंध का विषय नहीं बनता – उसे हम सुन नहीं सकते, देख नहीं सकते, छू नहीं सकते, फिर भी हम उसका अनुभव करते हैं। इसी तरह परमसत्ता भाषा का विषय नहीं बनती, फिर भी हम भाषा के माध्यम से उसका अनुभव कर सकते हैं।

सुवर्चला ने कहा – शब्द क्या सचमुच परमसत्ता के बोध के लिये माध्यम बनते हैं? और क्या यह परस्पर विरुद्ध बात नहीं कि जो सत्ता शब्द का विषय नहीं, उस पर हम शब्दों से ही चर्चा कर रहे हैं? यदि शब्द उसे विषय नहीं बना सकते, तो क्या सारे शब्द निरर्थक नहीं हैं? यदि सारे शब्द निरर्थक हैं, तो वेदों में भी जो शब्द हैं, वे भी तो निरर्थक ही कहे जायेंगे।

सुवर्चला ने इतना बड़ा प्रश्न उठा दिया था कि श्वेतकेतु कुछ देर सोचता रह गया। फिर उसने कहा – शब्द व्यवहार को प्रवर्तित करते हैं, एक शब्द दूसरे से संबंध रखता है। शब्द जब तक लोकव्यवहार का प्रवर्तन कर रहे हैं, और वे परस्पर संबंधित हो रहे हैं, वे निरर्थक नहीं कहे जा सकते।

सुवर्चला ने फिर प्रश्न किया – वेद के शब्द जिस सीमा तक लोकव्यवहार का प्रवर्तन करते हैं, उसी सीमा तक तो सार्थक होंगे। जिस स्तर पर वे परम सत्ता को विषय नहीं बनाते, उस स्तर पर तो वे निरर्थक ही कहे जायेंगे।

श्वेतकेतु ने कहा – जो वस्तु हमारे सामने नहीं है, उसकी ओर हम कई बार संकेत करते हैं। वेदों के शब्द भी परम सत्ता की ओर संकेत करते हैं। उस संकेत को जो पकड़ लेता है, वह मौन हो जाता है, क्योंकि वह जहाँ पहुँच गया है, शब्द उसकी देहली से ही लौट जाते हैं।

इस सारी चर्चा के साथ सुवर्चला और श्वेतकेतु दोनों ने अनुभव किया कि वे चेतना के आरपार देख रहे हैं।

इस तरह के वाद, विवाद और संवाद के बीच एक स्तर पर सुवर्चला और श्वेतकेतु का एक जीवन ज्ञान और सत्य के संधान में बीता, तो जीवन का दूसरा या अवर स्तर उन्होंने उसी तरह सहज भाव से बिताया, जैसा सामान्य जन बिताते हैं।

अध्याय 4 तिनके की ओट में स्त्री

वाल्मीकि की रामायण स्त्रीत्व की महिमा और गरिमा का एक महाकाव्य है। यह जितनी बड़ी कथा राम की है, उतनी या उससे भी अधिक महनीय कथा सीता की है, सीता ही नहीं यह अहल्या, मन्दोदरी और तारा की भी उतनी ही मार्मिक कथा है। यह वाल्मीकि के रामायण की ही महिमा है कि पाँच सबसे पूज्य नारियों में चार - अहल्या, सीता, तारा और मन्दोदरी को वाल्मीकि रामायण की नारीचरित्रावली से ही शामिल किया गया।

मनुष्य की मनस्तत्त्व की परीक्षा में वाल्मीकि संस्कृत कवियों में सर्वाधिक निपुण हैं। राम से वन में ले चलने का आग्रह करते समय सीता उनको जब लताड़ती हैं, तो वे अन्तिम अस्त्र के रूप में सीधे उनके पौरुष पर प्रहार करती हैं।

सा तममुत्तममसंविग्ना सीता विपुलवक्षसम्।
प्रणयाञ्चाभिमानाञ्च परिचिक्षेप राघवम्॥
किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।

राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्॥ (2।27।2-3)

(उन उत्तम पुरुष राम को निर्भीक सीता के उनके प्रति प्रेम और अपने आप में अभिमान के कारण लताड़ना आरम्भ किया - मेरे पिता मिथिलानरेश ने तुम्हें क्या समझा (और तुम्हारे साथ मेरा विवाह कर दिया?) तुम तो पुरुष के वेष में स्त्री हो।)

सीता राम को हँसी हँसी में लताड़ रही हैं, वन में उनके साथ जाने की अपनी जिद पूरी करने के लिये वे राम को उलाहना तथा चुनौती देने के लिये उन्हें स्त्री बता कर तर्क या बहस में अपनी जीत के लिये इस बात का एक हथियार के रूप में प्रयोग करती हैं। इसे स्त्रीत्व के प्रति अपमान नहीं माना जाना चाहिये।

रावण के द्वारा हरी जाती हुई सीता उसके साथ हाथापाई करती हैं, उसे चुनौती देती हैं। लंका में उन्हें ला कर जब पावण उनके आगे कुत्सित प्रस्ताव रखता है, तो वे उसे अत्यंत सटीक और तेजस्वी उत्तर देती हैं।

अशोकवाटिका में रावण ने बार बार यही बात कही - लंका में बूढ़ों और बच्चों को छोड़ कर दस करोड़ राक्षस हैं और बाईस करोड़ दूसरे लोग। इन सबका मैं स्वामी हूँ। इन सब का मैं अकेला स्वामी हूँ। और यह राज्यतंत्र ही नहीं, मेरे प्राण भी अब केवल तुम्हारे अधीन हैं। तुम मुझे प्राणों से बढ कर प्रिय हो। सहस्रों स्त्रियाँ मेरे अंतःपुर में हैं। तुम उन सब की स्वामिनी बन कर रहोगी। बस तुम मेरी भार्या बन जाओ। राज्य से भ्रष्ट, दीन, अल्पायु तेजोविहीन और तपस्वी उस राम से अब तुम्हें क्या करना? तुम मुझे भजो, मैं तुम्हारे योग्य पति हूँ। यह मत समझो कि राम से तुम कभी मिल सकोगी। मनोरथ के द्वारा भी यहाँ पहुँचने की उसकी बिसात ही क्या? जैसे आकाश में बहते वायु को बाँधा नहीं जा सकता, जैसे धधकती आग की लपटों को पकड़ा नहीं जा सकता, उसी तरह तीनों लोकों में भी कोई ऐसा नहीं है, जो मेरी भुजाओं से पालित होने पर तुम्हें यहाँ से ले जा सके। मैं तुम्हारी (पट्टमहिषी के रूप में) अभिषेक करूँगा, लंका का यह विशाल साम्राज्य है, तुम ही इस पर राज्य करो। तुम्हारे कोई बुरे कर्म रहे होंगे, जिनके कारण तुम्हें वनवास का क्लेश झेलना पड़ा, और तुम्हारे जो पुण्य कर्म रहे होंगे, उनका फल भोगने का समय अब आ गया। मेरे पास यह पुष्पर विमान है, हम दोनों उसमें विहार करेंगे। मैं तुम्हारे दोनों चरणों पर मस्तक रखता हूँ, प्रसन्न हो जाओ, मैं तुम्हारा दास हूँ। मैं ये सब खोखली बातें नहीं कर रहा, और न रावण ने इसके पहले कभी किसी स्त्री को प्रणाम ही किया है।⁴

रावण का एक एक वाक्य इसके दर्प और पांडित्य से सींचा हुआ लगता है। इतना कहने के बाद वह यही सोचता रहा कि सीता अब उसे ठुकरा कैसे सकती है। पर सीता ने जो उत्तर उसे दिया वह अपने आप में एक स्त्री

का भाषा में आड़ लेना है। सीता तिनके को ओट में रख कर बोलती हैं। तिनका ओट बनता है, डूबते का सहारा बनता है।

पूरी तरह से घिर गई स्त्री, जिसके पास कोई संबल नहीं, एक तिनका है, जिस पर उसकी आस है। यह तिनका भाषा का है। सीता ने कहा - राजा दशरथ धर्म के अचल सेतु के समान थे, सत्यप्रतिज्ञ के रूप में विख्यात राम उन्हीं के पुत्र हैं। वे धर्मात्मा राम तीनों लोकों में प्रसिद्ध हैं। दीर्घ भुजाओं वाले वे विशालाक्ष मेरे पतिदेव हैं। सिंह के समान स्कंध वाले इक्ष्वाकु कुल में जन्मे वे राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ तुम्हारे प्राण हरेंगें। जैसे जनस्थान में खर को राम ने धराशायी कर दिया, मुझे प्रत्यक्ष धर्षित करने वाले तुम्हारी भी वही गति होगी। जिन घोर महाबली राक्षसों पर तुम गर्व कर रहे हो, वे राम के सामने ऐसे ही निर्बल सिद्ध होंगे, जैसे गरुड के सामने साँप निर्विष हो जाते हैं। .. हे रावण! भले ही तुम देवों और असुरों से अवध्य हो, पर राम से इतना बड़ा वैर मोल ले कर तुम जीवित नहीं बचोगे। यज्ञ के यूप (वधस्तंभ) से बँधे पशु की तरह तुम को राम बलि चढा देंगे। राम तुम्हें रोष से दीप्त नेत्रों से देख भी लें, तो तुम जल कर राख हो जाओगे। ... तुम हतायु, गतसत्त्व गतश्रीक और गतेन्द्रिय हो तुके, तुम्हारे इस कृत्य से लंका विधवा हो जायेगी। ... तुम इस शरीर को चाहे बंदी बनाओ, चाहे मार डालो। मैं तो इस शरीर की न रक्षा कर सकती हूँ न अपने जीवन की। पर मैं इस धरती पर जब तक हूँ, कलंकित नहीं हो सकती।⁵

सीता रावण के साथ अनेक बार बहस करती हैं, वे उसे तर्क और प्रमाणों से समझाने का प्रयास करती हैं। सीता के इन कथनों में स्त्री के धैर्य के साथ वाद और संवाद के द्वारा अपनी अस्मिता को बचाये रखने का प्राणपण से यत्न है।

सीता की राम के साथ रावण वध के पश्चात् जो संवाद है, वह दंपति के बीच की बातचीत न हो कर समाज के सामने होने वाली एक बहस बन गई है। राम के आदेश से विभीषण सीता को लेने जाते हैं, सीता राम के दर्शन के लिये आतुर हैं, वे तुरंत चल देना चाहती हैं, पर विभीषण कहते हैं कि राम के आदेश के अनुसार स्नान कर के अलंकार व अच्छे वस्त्रों से अलंकृत हो कर ही आप चलिये।

सीता को शिविका में बिठा कर राम के सम्मुख लाया जाता है। सीता को आते देख कर राम के चित्त में हर्ष, दीनता और रोष तीनों एक साथ उदित होते हैं। विभीषण स्थिति की संवेदनशीलता को समझ कर राक्षसों

5. वही, 4.54.2-19।

और वानरों के समुदाय को वहाँ से दूर हटाने लगते हैं, राम कुपित हो कर कहते हैं - ये लोग मेरे स्वजन हैं, इन्हें आप मुझ से बिना पूछे कैसे हटवा रहे हैं?

इस अवसर पर राम के भीतर का क्रोध ज्वालामुखी के लावे की तरह फूट पड़ता है। यह क्रोध वस्तुतः रावण के लिये था, उस अपमान के लिये था, जो रावण ने उनका किया। दुर्भाग्य से इस क्रोध का विस्फोट ग़लत समय पर ग़लत दिशा में हुआ। राम ने सीता से कहा - हे भद्रे! शत्रु को जीत कर मैंने युद्ध में तुम को जीत लिया, अपने पौरुष से जो मैं कर सकता था, मैंने पूरा किया। अब मैं अपने अमर्ष के अंत पर पहुँच गया हूँ, अपना अपमान मैंने पौँछ डाला है, अपमान और शत्रु दोनों को मैंने उखाड़ फेंका है। सब लोगों ने मेरा पौरुष देख लिया, मेरा श्रम सफल हुआ, आज मैं प्रतिज्ञा पूरी होने से अब अपने ऊपर वश है। मेरे रहते एक चंचल चित्त वाला राक्षस जो तुम्हें उठा ले गया - भाग्य के द्वारा लगाया यह लांछन मैंने पौँछ दिया है..

राम के इस तरह की बातें सुन कर सीता रो पड़ती हैं, राम का क्रोध उन्हें रोते देख कर और भड़क जाता है, वे कहते हैं कि तुम्हारे चरित्र पर संदेह किया जा रहा है, तो तुम जहाँ जाना हो चली जाओ, दसों दिशाएँ तुम्हारे लिये खुली हैं। कौन पुरुष परगृह में रह चुकी अपनी पत्नी को फिर स्वीकार करेगा? मैंने तुम्हें पाने के लिये लिये युद्ध नहीं किया, अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिये किया था।

यहाँ सीता राम को नहीं पूरे समाज के उत्तर दे रही है, वह परम हताशा के क्षणों में सीता को अपना पक्ष रखना पड़ता है। पर उनके तर्क और संवाद का धैर्य उनके साथ है। अत्यधिक विचलित होकर भी वे अपने पक्ष में मुख्य रूप से चार बातें रखती हैं - (1) कुछ स्वैरिणी स्त्रियों के आचरण से समग्र स्त्री जाति को दोष नहीं दिया जा सकता, (2) यदि परपुरुष रावण ने (अपहरण के समय) मेरे शरीर का स्पर्श किया है, तो वह मेरी इच्छा से नहीं, उस समय मैं विवश थी। (3) हम दोनों एक साथ बड़े हुए, साथ साथ रहे, फिर भी यदि तुम मुझे समझ नहीं पाये, तो यह यह मेरे लिये मृत्यु ही है। (4) यदि तुम्हारे मन में मेरे लिये ऐसी भावना थी, तो जब तुमने हनुमान् को संदेश दे कर भेजा तभी ये बातें क्यों नहीं कहलवा दीं? मैं उसी समय अपने प्राण दे देती और

तुम्हें यह सब युद्ध न करना पड़ता। सीता फिर राम से कहती हैं कि तुम इस समय एक छोटे मनुष्य की तरह बात रहे हो औ केवल अपने रोष के अधीन हो गये हो, और तुम एक स्त्री के सामने छोटे पड़ गये हो -

**त्वया तु नरशार्दूल रोषमेवानुवर्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्॥**

वाल्मीकिरामायण, 6।104।14

सीता विषम परिस्थितियों में राम के साथ रहीं, दुरंत वेदना उन्होंने झेलीं। वे अपने दुःख को झेल कर बड़ी बनीं।

इस पुस्तक की भूमिका में प्रातःस्मरणीय महिलाओं के विषय में जो श्लोक उद्धृत है, उसमें सीता के साथ तारा और मंदोदरी के भी नाम हैं। तारा और मंदोदरी प्रातः स्मरणीय और पावन क्यों मानी गईं? पुरुष के द्वारा दिये गये दंश का अनुभव दुःख इन दोनों ने भी झेला, पर सीता की तरह वे अपनी वेदना में महान् नहीं हैं, जिन पुरुषों के साथ वे रहीं, उन पुरुषों की तुलना में वे अवश्य बड़ी और अधिक आदरणीय हैं। ये दोनों अपने अपने पतियों को एकदम सही सलाह देती हैं, दोनों के पति उनकी सलाह न मानने के कारण अपने प्राण गँवाते हैं। अपने पतियों के साथ ये दोनों बहस में उतरती हैं, तर्क और प्रमाण के साथ अपनी वाणी का सटीक उपयोग करती हैं, इसलिये परंपरा ने उन्हें स्मरणीय महिलाओं में सम्मिलित किया। दोनों महिलाएँ दो दो पुरुषों की पत्नियाँ बन कर रहीं।

तारा पहले बाली की पत्नी थी, सुग्रीव ने भूल से बाली को मरा हुआ मान लिया और राजा बन बैठा, तो तारा को उसने पत्नी की तरह रख लिया। बाली जीवित था, सुग्रीव को अपदस्थ कर वह फिर राजा बन बैठा, तो एक फिर फिर तारा बाली की हो कर रही। राम ने जब बाली का अंत कर दिया, और एक बार फिर सुग्रीव किष्किंधा पुरी का शासक बना, तो तारा सुग्रीव की पत्नी ही नहीं, एक प्रमुख सलाहकार भी थी। तारा को दो बार बाली ने और दो बार सुग्रीव ने पत्नी के रूप में रखा। सुग्रीव बाली को युद्ध के लिये चुनौती देता है, और बाली से परास्त हो कर राम के पास भाग कर आता है। राम अभिज्ञान के लिये उसे माला पहना कर फिर से युद्ध के लिये भेजते हैं, सुग्रीव फिर बाली को युद्ध के लिये ललकारता है। तारा इस अवसर पर बाली को सलाह देती है कि क्रोध करना उचित न होगा, सुग्रीव तत्काल क्यों लौट कर आ गया, वह सुग्रीव से संधि कर के उसे युवराज बनाने की भी सलाह दे देती है।⁶

तारा का एक अत्यंत विशद और तर्कसम्मत वक्तव्य यहाँ रामायणकार ने प्रस्तुत किया है। उतने ही तर्कसंगत और विवेकपूर्ण बातें तारा ने उस समय भी कहीं जब सुग्रीव की अर्मण्यता पर कुपित हुए राम के आदेश से लक्ष्मण किष्किंधा आ कर सुग्रीव को फटकारते हैं।⁷

सीता, तारा और मंदोदरी पुरुषों के वर्चस्व वाले समाज में अपने वाणी की उर्जा से अपने लिये स्थान बनाती हैं।

6. वही, 4.15.7-23

7. 2- वही, 4.34.23

अध्याय 5

शास्त्रार्थ में महाभारत और महाभारत का शास्त्रार्थ

प्राचीन शास्त्रार्थ के कुछ अन्य प्रसंग महाभारत के हैं। हमारी साहित्यशास्त्र की परंपरा में महाभारत को शांत रस का सबसे बड़ा महाकाव्य माना गया है, पर यह जो कथा कहता है वह हमारे सारे इतिहास की सबसे अशांत और दुरंत कथा है। ऋषिकाण्ड और ब्रह्मवादिनियाँ यहाँ नहीं हैं, पुरुषों की अधिनायकता, वर्चस्व और सत्ता के बीच स्त्री की भूमिका और भी छोटे हाशिये पर है, पर यह भी सत्य है कि महाभारत में वर्णित पात्रों में भारतीय इतिहास की सबसे तेजस्विनी नारियाँ भी हैं। इनमें से एक शकुंतला है।

शकुंतला की कथा उपाख्यान के रूप में महाभारत में है। तपोवन में शकुंतला को देख कर राजा दुःषंत उस पर मुग्ध हो गया और गांधर्व विवाह का प्रस्ताव रख दिया। शकुंतला ने कहा - यदि आप यह मानते हैं कि ऐसा विवाह धर्मसम्मत है, और आप यह भी कह रहे हैं कि मैं विवाह का निर्णय ले सकती हूँ, तो इसके लिये मेरी शर्त है। आप वचन दीजिये कि आपके साथ मेरे समागम से जो पुत्र होगा, वही राजा बनेगा।

राजा दुःषंत ने भी शकुंतला को वचन दिया और फिर कहा कि मैं तुम्हें नगर ले जाऊँगा। शकुंतला को विश्वास दिला कर उन्होंने उसके साथ पाणिग्रहण किया और उससे सहवास किया। फिर नगर की ओर प्रस्थान करते समय उसने शकुंतला से कहा कि मैं तुम्हें नगर बुलाने के लिये चतुरंगिणी सैना भेजूँगा। प्रस्थान करते समय दुःषंत के मन में चिंता थी कि महर्षि कण्व को पता चलेगा, तो पता नहीं क्या करेंगे।

इधर दुःषंत के जाने के बाद ऋषि कण्व आश्रम में लौट कर आये, और उन्होंने अपने तप के प्रभाव से दुःषंत और शकुंतला के परिणय की बात जान ली। उन्होंने शकुंतला के निर्णय पर प्रसन्नता प्रकट की और उसे आशीर्वाद दिया। समय आने पर शकुंतला ने पुत्र को जन्म दिया। उसका पुत्र छह वर्ष की आयु में ही व्याघ्रों, सिंहों और वराहों, हाथियों तथा शूकरों को वृक्षों से बाँध देता था। इसकी यह अतुलनीय शक्ति देख कर आश्रम के निवासियों ने उसका नाम सर्वदमन रख दिया। जब वह कुमार हो गया, तब कण्व ने शकुंतला से कहा कि अब यह समय आ गया है कि सर्वदमन का युवराज केपद पर अभिषेक हो और उन्होंने अपने शिष्यों के साथ शकुंतला को हस्तिनापुर भेज दिया।

हस्तिनापुर पहुँच कर शकुंतला ने राजा से कहा - मेरा यह पुत्र आप से उत्पन्न हुआ है, जैसा आपने वचन दिया था, इसका युवराज पद पर अभिषेक कीजिये।

दुःषंत को शकुंतला का स्मरण था फिर भी उसने कहा - अरी दुष्ट तापसी, तू किसकी पत्नी है, मुझे तो तेरा कुछ स्मरण नहीं है। तेरे साथ मेरा कोई संबंध हुआ था, मुझे स्मरण नहीं।

दुःषंत की बात सुन कर शकुंतला पहले तो हक्कीबक्की रह गई, फिर रोष में भर कर उसने राजा से कहा - "राजन्, तुम जान बूझ कर भी क्यों ऐसा कह रहे हो। तुम अपने हृदय से पूछो, वह जानता है, तुम्हें अपने आप का इस तरह अपमान नहीं करना चाहिये। जो अपने आप को कुछ का कुछ दिखाता है, वह चोर, अपनी ही आत्मा का अपहरण करने वाला और पापी होता है। तुम समझते हो कि पाप करते समय तुम अकेले थे, पर ऋषि कण्व अपने तप के प्रभाव से इसके साक्षी रहे हैं। जो पाप कर के समझता है कि मुझे किसी ने पाप करते नहीं देखा, उसे पाप करते हुए देवता देख चुके होते हैं और उसका अन्तरपुरुष भी। मैं तुम्हारे आगे याचना कर रही हूँ, यदि तुमने मेरी प्रार्थना ठुकराई, तो हे दुःषंत! तुम्हारा सिर टुकड़े टुकड़े हो जायेगा।

"पति अपनी पत्नी से समागम कर के स्वयं ही जन्म लेता है, अतः इस बेटे को अस्वीकार कर के तुम अपने आप को अस्वीकार कर रहे हो।"

इसके आगे भी शकुंतला पाप और मनुष्य की नियति तथा पिता - पुत्र के संबंधों को ले कर विस्तार से चर्चा करती है। वह पुत्र के होने का अर्थ समझाने लगती है। इस सब के उत्तर में दुःषंत उस पर पुंश्र्वली होने का आरोप लगाता है।

शकुंतला भड़क कर कहती है कि अपना दोष नहीं देख रहे हो।

कुरूप व्यक्ति जब तक अपना मुख दर्पण में नहीं देखता, दूसरों से अपने आप को ही अधिक सुंदर समझता रहता है। मूर्ख व्यक्ति किसी की अच्छी बुरी बातें सुन कर उनमें से बुरी बुरी बातें ही ग्रहण करता है, जैसे सूअर विष्टा ही ग्रहण करता है। समझदार व्यक्ति हंस की तरह होता है, जो नीरक्षीरविवेक रखता है। मूर्ख व्यक्ति सज्जनों की निंदा कर के प्रसन्न होता रहता है। इससे बड़ी हास्यास्पद बात क्या होगी कि जो स्वयं दुर्जन है, वह सज्जनों को दुर्जन बता रहा है।... सत्य सबसे ऊपर होता है। यदि तुम अपने पुत्र को स्वीकार नहीं करते, तो मैं उसके साथ यहाँ से जाती हूँ तुम्हारे बिना भी मैं इसके इतना शक्तिशाली बनाऊँगी कि चारों समुद्रों तक फैली इस सारी धरती का पालन यही करेगा।"

इस घोषणा के साथ शकुंतला वहाँ से चलने को होती है, तब आकाशवाणी होती है और देवता राजा दुःषंत से कहते हैं कि यह शकुंतला तुम्हारी पत्नी है और सर्वदमन तुम्हारा पुत्र।

दमयंती अप्रतिम रूपवती थी। उसने नल से प्रेम किया। नल इंद्र वरुण, यम और कुबेर इन चार देवताओं के आग्रह पर उनके दूत बन कर उसके पास आये और प्रस्ताव किया कि दमयंती इन में से किसी को स्वयंवर में अपना पति चुन ले। दमयंती नल के इस प्रस्ताव पर दमयंती ने हँसते हुए उनसे कहा - आपकी अपनी जैसी श्रद्धा हो, उसके अनुसार आप मुझ से अनुरोध कीजिये, फिर जो आप कहेंगे मैं करूँगी। है वीर मैंने तो तुम्हारे लिये

धरती के सारे राजाओं को ठुकरा दिया। मैं तुम पर अनुरक्त हूँ, और तुम मुझे ठुकरा दोगे, तो मैं विष खा लूँगी, पानी में डूब मरूँगी या गले में फंदा लटका कर मर जाऊँगी।

दमयंती के ऐसा कहने पर नल ने उससे कहा - देवताओं के रहते मुझ मनुष्य को तुम क्यों चाहती हो? मैं तो लोक के कर्ता उन महात्माओं के चरणों की धूल के बराबर भी नहीं हूँ। जो मनुष्य देवताओं का अप्रिय करता है, वह अपनी मृत्यु को ही निमंत्रण देता है। इसलिये हे अनवद्यांगि, मुझे बचा लो, तुम उत्तम देवताओं में से किसी का वरण कर लो।

नल की बातें सुन कर दमयंती ने आँसू बहाते हुए कहा - हे नरेश्वर, आपको इस संकट से उबारने का एक उपाय मेरी दृष्टि में है, जिससे आप के ऊपर दोष नहीं लगेगा। हे नरश्रेष्ठ, मेरे स्वयंवर में आप भी आइये और वे चारों देवता भी आयें। तब मैं उन देवताओं के सामने ही आपका वरण करूँगी, और आप के ऊपर दोष नहीं आयेगा।

दमयंती की बात सुन कर नल फिर देवताओं के पास गये और उन्हें दमयंती के साथ जैसी बात हुई थी, वह सब बताई। देवता भी स्वयंवर में पहुँचे, और नल का रूप धर कर उसके आस पास बैठ गये। तब दमयंती ने देवताओं से ही प्रार्थना की - "मैंने मन और वचन से कोई अतिचार नहीं किया, देवता मेरे सत्य के द्वारा मुझे मेरे प्रिय की पहचान करा दें, देवताओं ने ही मेरे लिये विधान किया है कि नल मुझे पति के रूप में प्राप्त होंगे, उस सत्य के द्वारा वे मुझे नल की पहचान करायें।" देवताओं ने भी नल के लिये दमयंती का सच्चा अनुराग देख कर उसे देव और मनुष्य में विवेक करने की बुद्धि दी। जिससे नल को पहचान कर उनका वरण कर सकी।

नल के कलि से आविष्ट हो जाने पर दमयंती उन्हें जुआ खेलने से रोकती रही। पर नल ने जुए में अपना सर्वस्व हार गये, और सर्वथा असहाय हो कर वन में भटकने पर विवश हुए। दमयंती ने उनका साथ नहीं छोड़ा। नल उससे अपने पिता के पास चले जाने का अनुरोध करते रहे, दमयंती उनसे बहस करती रही।

सीता और दमयंती दोनों वनवास में संकट के क्षणों में पति का साथ देती हैं, पति से वे इसके लिये खुल कर बहस भी करती हैं। संकट से गुजर कर दोनों पति को फिर से प्राप्त करती हैं, दमयंती तो नल को फिर से पाने के लिये दुबारा स्वयंवर रचाती है, जिसमें केवल अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण को ही आमंत्रित कराया जाता है, जिनके यहाँ नल छद्म वेष में सारथि का काम कर रहे होते हैं।

सीता की तरह दमयंती को भी अपनी शुचिता या सतीत्व को ले कर पति के सामने सफाई देनी पड़ती है - पर यह सफाई दोनों के बीच एकांत की बाचचीत में दी गई, नल को सचमुच में दमयंती के प्रेम को ले कर कोई संशय नहीं है।

महाभारत में ही सावित्री का उपाख्यान है। यह मिथकीय अभिप्रायों से संबलित अवश्य है, पर सावित्री के रूप में स्त्री के संकल्प, अदम्य अभीप्सा और पुरुष के साथ वाद और संवाद बनाये रखने की अप्रतिहत कामना का प्रतीक है। सावित्री अपने पिता, नारद, पति और सास-ससुर सब के सामने अत्यंत विनीत पर अपने संकल्प पर निर्भीक हो कर अडिग रहते हुए बात करती है। इसकी परिणति उसके यम या मृत्यु से संवाद में होती है, जिसमें यम के साथ वाद और संवाद करती हुई वह अपने पति को उनसे वापस पा लेती है।

महाभारत में उस समय की सबसे तेजस्विनी नारी - द्रौपदी- को जुए में दाव पर लगाया गया, और एक प्रबल शास्त्रार्थ हुआ। यह पूर्वनियोजित शास्त्रार्थ नहीं था, यह एक स्त्री के द्वारा विवशता में शुरू किया गया शास्त्रार्थ था - गहरे संकट के समय में उसके अस्तित्व को ही रौंद देने पर उद्यत पुरुष समाज के बीच। इस शास्त्रार्थ में केंद्रीय भूमिका भी द्रौपदी की थी।

यह शास्त्रार्थ कानून के एक पेचीदे मसले को ले कर हुआ, कानून उस समय धर्मशास्त्र के अंतर्गत एक विषय था। इसलिये कानूनी मसले पर हुई बहस का भी नमूना इसमें मिलता है।

यों तो पूरा महाभारत ही मनुष्यों के गहरे संकटों से गुजरने और उनसे उबरने की महागाथा है, पर उसका द्यूतपर्व ऐसा महाख्यान है, जिसमें पुरुषसमाज के बीच, पुरुष के कारण और पुरुषों के द्वारा अत्यंत दारुण स्थिति में पहुँचा दी गई स्त्री अपनी शास्त्रार्थ की प्रतिभा के द्वारा पुरुष की सत्ता को जबरजस्त चुनौती देती है। द्यूतपर्व मनुष्य के चरम अधःपतन और शब्द अथवा बहस द्वारा आशा की किरण सँजोने की कथा है।

जुए में दाव पर लगाई गई और राजसभा में जबरजस्ती घसीट कर लाई गई द्रौपदी भीष्म आदि सभासदों से जो संवाद करती है, उसमें एक शास्त्रार्थ घटित होता है, जो वास्तव में इस देश के इतिहास में सबसे बड़े शास्त्रार्थों में एक है।

युधिष्ठिर दुर्योधन के साथ होने वाले द्यूत में सारी संपत्ति, अपने चारों भाइयों और अपने आप को भी दाव पर लगाकर हार गये, और उनसे कहा गया कि अपनी पत्नी को भी दाव पर लगा दो, तो उन्होंने द्रौपदी को दाव पर लगा दिया। युधिष्ठिर कानून या धर्मशास्त्र के तो मर्मज्ञ थे, और जीवन भर उन्होंने उसका पालन किया, पर वे प्रेम करना नहीं जानते थे, न प्रेम का अर्थ ही समझते थे, नहीं तो वे राजा नल की तरह आत्मपरीक्षा के इस संकट भरे क्षण में जुए से हाथ खींच सकते थे - वे तो राजा नल की तरह कलियुग से आविष्ट भी नहीं थे। अपने भाई पुष्कर के द्वारा द्यूत की चुनौती पा कर उसके साथ द्यूत खेलते हुए राजा नल भी ठीक इसी तरह की स्थिति में जब सब कुछ हार जाते हैं और पुष्कर उनसे दमयंती को दाव पर लगाने को कहता है, तो वे कलियुग से आविष्ट होने के बावजूद अचानक जुए से हाथ खींच कर उठ जाते हैं क्यों कि उन्होने दमयंती से प्रेम किया है। फिर द्रौपदी के प्रसंग पर आये। स्वयं महाभारतकार महर्षि व्यास चाहते हैं कि भरी सभा में अपने को अत्यंत

अपमानजनक स्थिति में बलात् लाये जाने और दाव पर लगाये जाने की वैधता को ले कर जो सवाल द्रौपदी ने इस दुर्योधन की राजसभा में उठाये हैं, उन्हें और उन पर हुई बहस को शास्त्रार्थ माना जाया। इसलिये द्रौपदी के मुँह से एक शास्त्रार्थ की भूमिका बनाते हुए उन्होंने कहलवाया है -

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥

(महाभारत दाक्षिणात्य संस्करण, 2.89.65 सद्गुरु प्रकाशन, दिल्ली, खंड 2, सभापर्व, अ. 101, म.भा.लक्षालङ्कारः, भाग-1, पृ. 639)

वह सभा नहीं, जिसमें वृद्ध जन न हों, वे वृद्ध जन नहीं, जो धर्म की बात न करें, वह धर्म नहीं, जिसमें सत्य नहीं, वह सत्य नहीं, जो छल से अनुविद्ध हो।

यहाँ सभा शास्त्रार्थ करने वालों की सभा, वृद्ध का अर्थ निर्णायक, धर्म का अर्थ कानून लेने पर ही द्रौपदी के कथन का मर्म समझ में आता है। द्रौपदी प्रश्न उठाती है, और उसका निर्णय चाहती है।

द्रौपदी के सवाल पर बाद में बात करने वालों में विकर्ण बार बार धर्म, सभा और सभ्य शब्दों का प्रयोग भी इसी अर्थ में करता है।

इस काल में जुआ खेलना कानूनन जायज था, और अपनी स्त्री को दाव पर लगाना भी वैध ही था, महाभारतकाल के पुरुष को हक है कि आपकी पत्नी चाहे वह मामूली औरत हो या महारानी हो, जुआ खेलते हुए उसे दाव पर लगा दे। पर युधिष्ठिर के द्वारा द्रौपदी को दाव लगा दिया जाना अत्यंत असामान्य घटना थी। महाभारतकार के शब्दों में जब द्रौपदी को दाव पर लगाया गया - "तो सभा क्षुब्ध हो गई., सारे राजा दुखी हो गये, भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य के पसीने छूटने लगे. विदुर ने माथा पकड़ लिया और वे निष्प्राण हो कर मुँह झुकाये साँप की तरह फुफकार छोड़ते बैठे रह गये।

इसके पहले इस सारे प्रसंग में एक बड़े शास्त्रार्थ की भूमिका तो उसी समय बन गई थी, जब द्रौपदी ने उसे लेने के लिये आये हुए प्रतिकामिन् या दूत से कहा था कि उस जुआरी (युधिष्ठिर) से जा कर पूछ कि उसने स्वयं को पहले दाव पर लगाया था, या मुझे -

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज।
किं तु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम्॥ (मभा. 2.60.7)

सूत ने सभा में जा कर द्रौपदी का प्रश्न सुना दिया। तब दुःशासन को भेजा गया कि वह द्रौपदी को घसीट कर ले आये।

द्रौपदी ने भरी सभा में घसीटे जाते समय भीष्म आदि को भी पुकारा, उसने देखा कि इतने बड़े बड़े महापुरुष और ज्ञानी जन निस्तेज और हतप्रभ हैं।⁵ तब उसने सारे क्षत्रियों, भीष्म, द्रोण और उपस्थित समस्त बड़े-बूढ़े लोगों को धिक्कारते हुए कहा -

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां
धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम्।
यत्राभ्यतीतां कुरुधर्मवेलां
प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम्॥
द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं
ध्रुवं तथैवास्य महात्मनोऽपि
राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं
न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः॥ 2.60.33-34

द्रौपदी ने उन सबसे केवल एक प्रश्न पूछा था - पितामह, जो इस समय संसार के सबसे बड़े ज्ञानी हैं, द्रोणाचार्य - जो कारव-पांडवों के गुरु हैं , विचार कर के बतायें कि मुझे दाव पर लगाने का अधिकार युधिष्ठिर को था या नहीं?

द्रौपदी के इस प्रश्न पर ऐसी दुरंत संकट की घड़ी में उस सभा में शास्त्रार्थ हुआ। भीष्म से सीधे सीधे प्रश्न किया गया, पर उन्हें तो उत्तर ही नहीं सूझ रहा था। वे यही कह पाये कि "हे सुहागिन, धर्म की गति ऐसी सूक्ष्म है कि मैं तेरे प्रश्न का मैं यथावत् उत्तर नहीं दे पा रहा हूँ, जो अपने आप को जुए में हार कर दास बन गया है, उसे अन्य कोई संपदा दाव पर लगाने का अधिकार नहीं रह जाता, क्योंकि दास के पास धर्मशास्त्र के अनुसार संपत्ति नहीं होती - यह जितना सत्य है, उतना ही यह भी सत्य है कि अपने आप को दाव पर लगाने और हार कर दास बन जाने पर भी युधिष्ठिर तेरा पति तो है ही, और पति को का पत्नी पर अधिकार है कि वह उसे दाव पर लगा सके -

न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्।
अस्वो ह्यशक्तः पणितुं परस्वं स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य॥

(मभा. 2.60.40)

फिर युधिष्ठिर तो स्वं धर्मज्ञानी है, वह समग्र पृथिवी को धर्म के लिये छोड़ सकता है, वह ऐसा काम क्यों करेगा जिसमें अधर्म हो। अत एव मैं इस पर निर्णय देने में असमर्थ हूँ।

त्यजेत सर्वा पृथिवीं समृद्धां
युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात्।

उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन

तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत्॥ मभा. 2.60.41)

पूरी सभा में दो लोग थे - विकर्ण तथा विदुर -जो द्रौपदी के पक्ष में स्पष्ट खुल कर बोले।

विकर्ण ने सभासदों से कहा कि वे द्रौपदी के द्वारा उठाये गये प्रश्न का उत्तर दें, यदि वे अविवेक से साथ उत्तर देंगे, तो नरकगामी होंगे। भीष्म, धृतराष्ट्र तथा कुरुकुल के अन्य बड़े-बूढ़े द्रौपदी के प्रश्न पर चुप्पी साध कर बैठ गये हैं, विदुर ने भी निर्णय नहीं दिया है। इसलिये जो भी राजा यहाँ दूर दूर से आये हैं, वे काम और क्रोध छोड़ कर अपनी बुद्धि से सत्य कहें।

विकर्ण के बार बार राजाओं या सभासदों को उकसाने पर भी जब वे चुप रहे, तो उसने कहा - आप लोग चाहे कुछ कहें, चाहे न कहें, पर मैं जो उचित समझता हूँ वह अवश्य कहूँगा। राजाओं के लिये चार व्यसन बताये गये हैं - मृगया, सुरापान, जुआ तथा ग्राम्य भोगों में आसक्ति। इस युधिष्ठिर ने अपने व्यसन के कारण जुए की चुनौती में द्रौपदी को दाव पर लगा दिया, एक तो अनिन्दिता द्रौपदी केवल इसी की पत्नी नहीं है, और फिर पहले स्वयं को दाव पर लगा कर हार जाने पर इसने द्रौपदी को दाव पर लगाया है, दाव पर जीती गई वस्तु की कामना करने वाले दुर्योधन ने इसे भले यहाँ बुलवा लिया है, पर सारी बात पर विचार कर के मैं इसे विजित या जीत ली गई नहीं मानता।"

विकर्ण के ये वचन सुन कर विकर्ण की प्रशंसा और दुर्योधन की निंदा करने वाले सभा के सदस्यों का का बड़ा नाद इस सभा में गूँज उठा। (मभा. 2.61.12.-25)

विकर्ण के इस साहस का ही परिणाम था कि विदुर को भी उठ कर उसकी बात का समर्थन करना पड़ा। उन्होने धर्म का विवेचन करते हुए सभासदों को ऊँचनीच समझाया। विदुर का कहना यह था कि जो पाप करता है, वही पाप का भागी नहीं होता, जो उसे पाप करते हुए मौन रह कर देखता रहता है, वह भी पाप का भागी होता है। भीष्म के कथन पर आपत्ति व्यक्त करते हुए विदुर ने कहा कि द्रौपदी को उसके प्रश्न का यथोचित उत्तर नहीं दिया गया है।

पर यह सभा ऐसी सभा थी, जिसमें होनी वाली बहस में धर्म के भीतर अधर्म गुँथा चला जा रहा था। विदुर ने स्पष्ट कहा -

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैव रौरवीति ह्यनाथवत्।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते॥
सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्ज्वलन्निव हव्यवाट्।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत॥
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते।

न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥ मभा. 2.61.69

(सभा में धर्म अधर्म से बिंध कर उपस्थित होता है, और सभासद इस धर्म को बींधने वाले शल्य को निकालते नहीं, वे पाप से स्वयं विद्ध हो जाते हैं।)

जो पाप करता है, उसका पाप का आधा समाज के श्रेष्ठ जनों, (जो समाज के नेता या शास्ता हैं) को जाता है, चौथाई पाप करने वाले को और बचा हुआ एक चौथाई सभासदों को लग जाता है। जिस सभा में निन्दनीय की निंदा की जाती है, उस में सभापति पापमुक्त हो जाता है और सभासद भी। पाप केवल पाप करने वाले को लगता है। (मभा. 2.61.70-71).

यही नहीं, उन्होने दुर्योधन को झिड़कते साफ साफ कहा कि युधिष्ठिर को द्रौपदी को जुए में दाव पर लगाने का अधिकार नहीं था, क्यों कि

वह स्वयं अपने आप को पहले हार चुका था -

**दुर्विभाषं भाषितं त्वादृशेन न मन्दं सम्बुध्यसि पाशबद्धः।
प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि व्याधान्मृगः कोपयसेऽतिवेलम्॥
न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति।
अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः॥ (2.59.4)**

विदुर के कथन का कौरव पक्ष ने इसलिये अनादर किया कि वे क्षत्ता (शूद्र) थे। दुर्योधन ने तो उन पर ही दोषारोपण कर दिया। पूरे प्रसंग को पढने पर लगता है कि यह उस समय का सबसे बड़ा शास्त्रार्थ इस दृष्टि से भी था कि द्रौपदी के प्रश्न का भले भीष्म और द्रौण जैसे ज्ञानी यथोचित उत्तर न दे पाये हों, पर जब विकर्ण ने द्रौपदी के पक्ष को जायज बताया, तो (उन इने गिने ज्ञानी जनों और कौरव पक्ष के लोगों को छोड़ कर) सारी सभा में द्रौपदी और विकर्ण के पक्ष के सभ्य जनों ने महानाद किया।

विकर्ण का कथन में निर्भ्रात और सुचिंतित मन्तव्य था कि द्रौपदी न पण्य बनाई जा सकती थी, न वह द्यूत में विजित ही कही जा सकती थी।

**जितेन पूर्वं चैतेन पाण्डवेन कृतः पणः।
इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।
एतत् सर्वं विचार्याहं न मन्ये निजितामहम्॥
एतच्छ्रुत्वा महान्नादः सभ्यानामुदतिष्ठत।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम्॥ (महाभारत 2.61.21-25)**

द्रौपदी, विकर्ण तथा विदुर ने जो प्रश्न उठाये उनके विरोध में दुर्योधन, कर्ण तथा दुःशासन ने कुछ तर्क दिये तथा उससे अधिक अनर्गल और अक्षील बाते कहीं, उन सब को दोहराना यहाँ उचित नहीं है। पर इनके पूर्वपक्ष को वाद की भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है

द्रौपदी जुए में हारी हुई वस्तु है (प्रतिज्ञा); - क्यों कि युधिष्ठिर ने उसे दाव पर लगाया और वह हार गया (हेतु); दाव पर लगाने के बाद हारी गई हर वस्तु पर विजेता का अधिकार होता है (उपनय); इसलिये द्रौपदी के साथ दुर्योधन ने जो कुछ किया वह न्यायसम्मत है।

दुर्योधन पक्ष के इस हेतु को ही द्रौपदी, विकर्ण तथा विदुर अपनी दलीलों से असिद्ध हेतु साबित करते हैं। वाद की सैद्धान्तिकी के अनुसार इस शास्त्रार्थ में द्रौपदी और विकर्ण तथा विदुर के पक्ष को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है -

प्रतिज्ञा - द्रौपदी जुए में हारी संपत्ति नहीं है,

हेतु - (1) धर्मशास्त्र या कानून में जुआ एक निषिद्ध कर्म है, युधिष्ठिर का जुआ खेलना अवैध है, (2) युधिष्ठिर पहले स्वयं को दाव पर लगा कर हार चुके हैं, जुए में हारे व्यक्ति के संपत्ति के अधिकार समाप्त हो जाते हैं, अतः युधिष्ठिर को स्वयं को हार जाने के बाद किसी भी प्रकार की संपत्ति को दाव पर लगाने का अधिकार नहीं रह जाता।

निगमन - अतः युधिष्ठिर का जुआ, द्रौपदी को दाव पर लगाना दोनों अवैध हैं, तथा द्रौपदी अविजित है।

द्रौपदी के द्वारा उठाई गई सारी बहस एक न्यायालय में होने वाली बहस का भी रूप ले लेती है, जिसमें न्यायाधीश राजा धृतराष्ट्र है। धृतराष्ट्र को विवश हो कर न्याय के पक्ष में निर्णय देना पड़ता है। धृतराष्ट्र ने जो द्रौपदी का सम्मान किया, और युधिष्ठिर को उनका राज्य ससम्मान लौटा दिया - उसके पीछे द्रौपदी के शास्त्रार्थ की भूमिका थी।

द्रौपदी के द्वारा जो शास्त्रार्थ उठाया गया, उस का एक स्पष्ट निर्णय यह भी है कि पाप या अन्याय करने वाला ही पापी नहीं होता, उस पाप या अन्याय पर चुप रहने वाला भी पापी होता है। इस के साथ यह शास्त्रार्थ हमारे सारे इतिहास में इसलिये बहुत महत्वपूर्ण है कि इसने यह साबित कर दिया कि बुद्धिजीवी अपने छद्म और दोहरे मानदंड को छोड़ कर न्याय और सत्य के पक्ष में आवाज उठाता है, तो अन्याय के ताने बाने टूटते हैं। पर सबसे बड़ी बात यह है कि यह शास्त्रार्थ द्रौपदी के एक प्रश्न के कारण संभव हुआ।

शकुंतला या दमयंती की पूजा नहीं होती। सीता और द्रौपदी की होती है। द्रौपदी को ले कर अनेक मिथकीय वृत्तांत पुराणों में गढे गये। यह माना गया कि वह पूर्वजन्म में नालायणी या इंद्रसेना नाम की सती थी,

जो अपने कोठी पति मौद्गल्य की सेवा करती रही। एक अन्य मिथक में उसे महालक्ष्मी तथा मायासीता का अवतार भी बताया गया।⁸

पांडव जिन स्थलों पर रहे, वहाँ द्रौपदी के पूजन की परंपरा नहीं विकसित हुई। द्रौपदी के मंदिर व द्रौपदी को देवी रूप में पूजा करने की परंपरा सुदूर तमिलनाडु में पनपी। यही नहीं द्रौपदी के चरित्र का दैवीकरण करते हुए इन मंदिरों में आनुष्ठानिक नृत्य व द्रौपदीकुट्टु माक का नाट्य नियमित रूप से किया जाता रहा है। द्रौपदीअम्मा के नाम से द्रौपदी के मंदिर तमिलनाडु के उत्तर आरकोट में चेंची नामक स्थान में मूलतः बनवाये गये, और इसी क्षेत्र में द्रौपदी के मंदिर व पूजा का विशेष प्रसार हुआ।⁹ इसका कारण यह हो सकता है कि जिन समाजों में नारी अपनी मुक्ति के लिये छटपटा रही थी, उनमें द्रौपदी के उसने अपने लिये प्रेरणा और मुक्ति का प्रतीक पाया।

अध्याय 6

पहली सहस्राब्दी में स्त्री - पुरुष वर्चस्व के प्रतिरोध में

उपनिषदों और महाभारत के काल के बाद सामंतीय समाज में स्त्री की स्थिति निरंतर गौण होती गई, फिर भी भद्र समाज में पढी लिखी स्त्रियाँ बराबर होती रहीं, जिन्हें अपनी बुद्धि और पांडित्य पर गर्व था। इनमें कोई कोई स्त्रियाँ ऐसी भी थीं, जो अपनी प्रखरता के द्वारा पुरुष को चुनोती दे सकती थीं। दो कथाएँ, जिनकी पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है, उनसे यह स्थिति सामने आती है।

पहली कथा राजा सातवाहन की है। पुराणों के अनुसार राजा सातवाहन का समय पाँचवीं शताब्दी ई.पू. है, जब कि आधुनिक विद्वान् सातवाहन और संवत् प्रवर्तक शालिवाहन को एक मान कर उनका समय पहली शताब्दी ई. मानते हैं। राजा सातवाहन का रानियों में विष्णुशक्ति की पुत्री पंडिता थी। एक बार राजा अपनी बावड़ी में रानियों के साथ जलविहार कर रहे थे। रानियाँ उन पर पानी के छींटे मारतीं और राजा रानियों पर। पंडिता रानी ने राजा के छींटों से तंग आ कर कहा - मोदकैस्ताडय (उदकैः - पानी से, मा - मत, ताडय - मारो)। राजा ने इस वाक्य का अर्थ समझा कि रानी मोदकों की फरमाइश कर रही है, और उसने सेवकों को मोदक या लड्डू लाने का आदेश दिया। तब रानी ने ताना देते हुए कहा - महाराज आप को तो

8. -Puranic Encyclopaedia, p.549

9. Folk Traditions Related to the Mahabharata in South India, T.S. Rukmini, Modern Evaluation of the Mahabharata: Ed. S.P. narang, pp. 274-76)

व्याकरण के संधि के नियम भी नहीं आते... यहाँ जलक्रीडा के समय लड्डुओं का क्या काम? मैं तो उदक से ताडन न करने का अनुरोध कर रही हूँ, मोदक से ताडन का नहीं।

रानी के ताने से राजा बड़ा आहत हुआ, उसने प्रण कर लिया कि संस्कृत का पंडित बन कर दिखा दूँगा।

दूसरी कथा मेरुतुंगाचार्य के प्रबन्धचिन्तामणि में मिलती है, जिसका आधार ऐतिहासिक है। इस कथा के साथ एक शास्त्रार्थ-परंपरा भी जुड़ी हुई है। उज्जयिनी में राजा विक्रमादित्य राज्य करते थे। प्रियंगुमंजरी विक्रमादित्य की पुत्री थी। मोहन राकेश ने अपने आषाढ का एक दिन में राजपुत्री का यह नाम कदाचित् मेरुतुंग की कथा से ही लिया है। इस संबंध में अन्य कथा भी है, जिसमें राजकुमारी का नाम विद्योत्तमा बताया गया है, और उसके द्वारा शास्त्रार्थ में अपने समय के बड़े बड़े पंडितों को पराजित करने का उल्लेख किया गया है।

प्रियंगुमंजरी को राजा ने अध्ययन के लिये वररुचि नामक पंडित के पास भेज दिया। वह ऐसी प्रखर बुद्धि वाली थी कि कुछ ही दिनों में वररुचि पंडित से उसने सारे शास्त्र पढ डाले। एक बार प्रियंगुमंजरी खिड़की के आगे आराम से बैठी थी। दोपहर का समय था और बाहर प्रखर घाम था। प्रियंगुमंजरी ने देखा कि बाहर रास्ते पर गुरुजी जा रहे हैं। शिष्या को देख कर गुरु उसके वातायन की छाया में विश्राम के लिये तनिक रुके। प्रियंगुमंजरी ने उनके सामने खूब सुस्वादु पके आम रखे। फिर उसने परिहास करते हुए उनसे पूछा -ये फल आप ठंडे ठंडे खायेंगे या गर्म गर्म? गुरु उसकी चतुराई ताड नहीं पाये, और उन्होंने यों ही कह दिया - मैं तो गर्म गर्म ही खाऊँगा। यह सुन कर राजकन्या ने वस्त्रांचल से ढके वे फल वस्त्र को तिरछा कर के नीचे गिरा दिये। धरती पर गिर जाने से फलों में धूल लग गई। गुरु जी फल उठा कर उनमें लगी धूल अपने मुख से फूँक कर हटाने लगे, तो राजकन्या ने हँसी उड़ाते हुए कहा - क्या आप गर्म गर्म फलों को फूँक मार कर ठंडा कर रहे हैं? उसके उपहास भरे वचन से गुरु तिलमिला उठे, और उन्होंने कहा - तू अपने आप को बहुत चतुर समझती है! गुरु से वितर्क करने वाली तुझ को कोई पशुपाल (गडेरिया) ही पति मिलेगा।

उनके शाप को सुन कर राजकन्या ने कहा - आप व्याकरण, न्याय और मीमांसा इन तीनों विद्याओं के जानकार हैं, मैं तो ऐसे मनुष्य से ब्याह करूँगी जो आप से भी अधिक विद्याधनी और आपका भी गुरु हो।

फिर तो राजकन्या ने प्रतिज्ञा कर ली कि अपने गुरु से बढ कर ज्ञानी से ही विवाह करूँगी। अब महाराज उसके अनुरूप वर पाने की चिंता के सागर में डूबने उतराने लगे। उन्होंने वररुचि पंडित से भी कहा कि बेटी के योग्य वर खोज कर लाओ। वररुचि वर की खोज के लिये वन में भटक रहे थे। चलते चलते उन्हें बड़ी जोर की प्यास लगी। कहीं कोई सरोवर नदी आदि न दिखा। एक पशुपाल मिला, तो उन्होंने उससे जल माँगा।

पशुपाल ने कहा - पानी तो नहीं है, दूध पी ले। और दूध पीना है, तो करचंडी बना।

यह सुन कर वररुचि चकित रह गये। करचंडी जैसा कोई शब्द उन्होंने सुना न था। उन्हें सोच विचार में पड़ा देख कर पशुपाल ने अपना हाथ उनके माथे पर रखा, फिर उन्हें भैंस के पैरों के पास बिठा दिया और दोनों हाथ मिला कर करचंडी कैसे बनाना है - यह समझाया। फिर उसने भैंस के थन दुह कर उनको छक कर दूध पिलाया।

वररुचि ने मन में सोचा - इसने मेरे मस्तक पर हाथ रखा, फिर मुझे करचंडी क्या होती है यह समझाया। इस प्रकार मस्तक के स्पर्श करने तथा शब्दविशेष का अर्थबोध कराने के कारण यह मेरा गुरु ही हुआ। तो इससे विवाह कराने से राजकन्या की प्रतिज्ञा भी पूरी होगी और यही उसके अनुरूप पति भी होगा।

वररुचि किसी तरह उस पशुपाल का उसकी भैंसों से पिंड छुड़ाया, और उसे अपने महल में ले आये। छह महीने तक उन्होंने उसे खूब खिला पिला कर हृष्ट पुष्ट कर दिया, और साथ में ओम् नमः शिवाय - यह आशीर्वाद का वाक्य रटवा दिया। जब उन्हें विश्वास हो गया कि छह महीने में पशुपाल ने आशीर्वाद के छह अक्षर रट लिये हैं, तो वे एक दिन शुभ मुहूर्त में उसका अच्छी तरह साज सिंगार करवा के राजसभा में ले गये। कहा कि ये मेरे गुरु हैं, केवल मंत्रोच्चार ही करते हैं तथा गूढ भाषा में बात करते हैं।

राजसभा में पहुँच कर पशुपाल तो घबरा गया और वररुचि ने आशीर्वाद का वचन उच्चारने का जब संकेत किया, तो घबराहट में उसके मुँह से ओम् नमः शिवाय के स्थान पर निकला - उशरट। उसके ऐसे गड़बड़ वचन से चकित राजा जब तक कुछ समझ पाते वररुचि ने तुरत अपनी चतुराई से बात सँभालते हुए यह श्लोक पढा - -

**उमया सहितो रुद्रः शङ्करः शूलपाणि भृत्।
रक्षतु त्वां महीपाल टङ्कारबलगर्वितः।**

इस श्लोक की व्याख्या उस पशुपाल को परमपंडित सिद्ध करने की दृष्टि से वररुचि ने इस प्रकार कर डाली - हे राजन्, उमासहितरुद्र, शंकर, हाथ में शूल धारण करने वाले, रक्षा करें आपकी, जो धनुष की टंकार के बल से गर्वित हैं - इसमें से उमासहितरुद्र से उ, शंकर से श, रक्षा करें इस क्रिया से र तथा टंकार के बल से गर्वित इस पदसे ट ले कर मेरे गुरु ने उशरट यह आशीर्वाद आप को दिया है।

सुन कर राजा की प्रसन्नता का कोई ठिकाना न रहा। उसने आनन फानन में अपनी बेटी का ब्याह पशुपाल के साथ करवा डाला। पंडित वररुचि ने पशुपाल को खूब समझा दिया था कि विवाह के समय एकदम मौन साध कर रखना। सो वह मौन व्रत का बहाना कर के चुप रहा।

राजकन्या ने देखा कि पति ने तो मौन व्रत ले रखा है, तो वह अपनी नई लिखी हुई एक पुस्तक ले कर आई और पुस्तक उसे सौंप कर बोली - तनिक इसमें संशोधन कर दीजिये। पोथी तालपत्र में रही होगी। पशुपाल को पुस्तक तो काला अक्षर भैंस बराबर थी, तो वह एक हाथ में नखच्छेदनी और दूसरे हाथ में पुस्तक लिये

नखच्छेदनी से पुस्तक के अक्षरों से बिंदु और मात्राएँ मिटा मिटा कर उल्टे शुद्ध अंशों को अशुद्ध करने लगा। यह देख कर राजकन्या समझ गई कि यह तो मूर्ख है।

इस घटना के बाद से राज्य में एक शब्द प्रचलित हुआ - जामातृशुद्धि - जिसका अर्थ था भावी दामाद को खोज परख कर चुनना।

इधर पशुपाल राजकन्या के प्रासाद में एक बार भीत पर बने चित्र निरख रहा था। उस चित्रावली में कहीं भैंसों के चित्र देख कर वह सुध बुध खो बैठा और अपनी पद-प्रतिष्ठा बिसरा कर भैंसों को बुलाने के लिये तालु से जीभ सटा कर जिस तरह पहले आवाज निकालता था, उस तरह से आवाजें निकालने लगा। उसके ऐसे विकृतस्वर सुन कर राजकन्या समझ गई कि यह तो कोई गडरिया या पशुपाल ही है।

उसने पति को इतना अपमानित किया कि वह यह कह कर कालिका की आराधना करने को बैठ गया कि जब तक देवी प्रसन्न हो कर मुझे विद्वान् होने का वर नहीं दे देगी, नहीं उठूँगा। अब राजा को चिंता लगी कि कहीं मेरी बेटी विधवा न हो जाये। तो उसने काली के वेष में एक दासी को भेज दिया, जो पशुपाल के आगे प्रकट हो कर कह दे कि मैं प्रसन्न हूँ, वर माँग। जब तक वह दासी पशुपाल के आगे प्रकट हो कर कुछ कहती, तब तक काली देवी को चिंता हुई कि इससे तो मेरी प्रतिष्ठा समाप्त हो जायेगी, वह वे स्वयं साक्षात् पशुपाल के आगे प्रकट हो गई और उस पर अनुग्रह किया। फिर तो पशुपाल महान् पंडित और कवि बन गया। जब वह लौट कर राजकन्या के पास आया, तो राजकन्या ने पूछा - अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः? (तुम्हारी वाणी में कुछ विशेष बात आई? तब उस पशुपाल ने अस्ति, कश्चित् और वाक् इन तीन शब्दों से आरंभ होने वाले कुमारसंभव आदि तीन काव्य और कुल मिला कर छह प्रबंधों की रचना की तथा कालिदास नाम से प्रसिद्ध हुआ।¹⁰

अब जब कि आधुनिक इतिहासकारों में अनेक ने स्वीकार किया है कि पहली शती ईसा पूर्व में उज्जयिनी में विक्रमादित्य राजा थे, तो उनकी पुत्री अपने समय के धुरंधर पंडितों से शास्त्रार्थ करती थी - इस कथा में भी सत्य है - यह स्वीकार किया जाना चाहिये।

ईसा की पहली सहस्राब्दी शास्त्रपरंपराओं के विकास की दृष्टि से सबसे संपन्न काल है। भर्तृहरि, नागार्जुन, धर्मकीर्ति जैसे श्रेष्ठ विचारक हो चुके हैं। यह कुमारिल, शंकर, मंडन मिश्र और उदयन जैसे दिग्गज दार्शनिकों का समय है, यह वह समय है जब संस्कृत की सारी शास्त्रपरंपराएँ अपने को तरोताज़ा कर कर रहीं हैं - नव्यवेदांत है, नव्य व्याकरण है, नव्यन्याय है; और मीमांसा में भी काफी कुछ नया है; कुमारिल और प्रभाकर का दर्शन है; मुरारि मिश्र का तीसरा मार्ग है।

10. मेरुतुंग : प्रबन्धचिन्तामणि, सिंधी जैन ग्रंथ माला, वि.सं. 1988, पृ. 3-5

पर स्त्रियाँ इस वैचारिक अभियान और शास्त्रपरंपराओं के नवीकरण में कहाँ हैं? दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, कुमारिल, प्रभाकर, उदयन, जयंत भट्ट जैसे दिग्गज दार्शनिकों के संसार में स्त्री का तो कहीं प्रवेश नहीं लगता। कला, कविता और साहित्य पर होने वाले विमर्श में अवश्य वे अपनी उपस्थिति दर्ज करती हैं, यही नहीं, वे पुरुषों के आगे चुनौती भी पटकती हैं। आठवीं नवीं शताब्दी के आसपास विज्जका या विजया हैं, जो दण्डी जैसे आचार्य को लताड़ देती हैं -

**नीलोत्पलदलशुभ्रां विज्जकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्ता सर्वशुक्ला सरस्वती॥¹¹**

(दंडी ने सरस्वती को सर्वशुक्ला नाहक ही कह दिया, उन्हें पता नहीं था कि मैं विज्जका तो नीलकमल की तरह साँवली हूँ।) या वे कवि होने का गर्व रखने वालों के माथे पर वाम चरण रखने की बात कहती हैं

**एकोऽभून्नलिनात् ततश्च पुलिनाद् वल्मीकतश्चापर-
स्ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्महे।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चेतश्चमत्कुर्वते
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाटराजप्रिया॥¹²**

(एक ब्रह्मा तो नलिन या कमल से हुए, दूसरे व्यास पुलिन गंगा के किनारे पर हुए, तीसरे वाल्मीकि वल्मीक या बाँसी से जन्मे, ये सब महान् कवि हैं, इनको हम नमन करते हैं। यदि आजकल के रचना करने वाले गद्य पद्य रच कर चित्त में चमत्कार उत्पन्न करते हैं, तो उनके मस्तक पर मैं कर्णाटराज की प्रिय रानी अपना बायाँ पाँव रखती हूँ।)

यह विजयांका की ओर से समस्त समकालीन पुरुष समाज को चुनौती है -- आश्चर्य यह भी है कि आचार्य परंपरा में कर्णाक की रानी का यह श्लोक सराहना के भाव से उद्धृत किया जाता रहा है - विजयांका का साहस - और कदाचित् उसकी यह चुनौती समकालीन कवियों के लिये कितनी असाध्य रही इस संकेत के साथ। राजशेखर ने सरस्वती के रूप में ही उनकी स्तुति की है -

**सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्॥¹³**

ईसा के बाद की शताब्दियों में सुभद्रा, फाल्गुनहस्तिनी, इन्द्रलेखा, मारुला, रामभद्राम्बा, तिरुमलाम्बा, गङ्गादेवी जैसी अत्यंत सरस कविता रचने वाली कवयित्रियाँ हैं, पर शास्त्रपरंपरा और शास्त्रार्थ में स्त्री का

11. शाङ्गधरपद्धति में विज्जिका के नाम से उद्धृत। पद्यसंख्या-180।

12. यह श्लोक सुभाषितरत्नभांडागार (श्रीवेंकटेश स्टीम प्रेस, 1985) में 281 क्र. पर उद्धृत है। स्टर्न बाख ने महासुभाषितसङ्ग्रह (विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान, खंड -4, 1980, पृ. 1930 में भी इसे उद्धृत किया है। कलकत्ता से प्रकाशित संस्कृतपाठोपकारक (शक 1761) में भी यह उद्धृत है।

13. शाङ्गधरपद्धति पद्यसंख्या 284

अवतरण अपवादस्वरूप यदा कदा ही होता है। भवभूति के उत्तररामचरित नाटक में वेदांत पढने के लिये आतुर एक लड़की आत्रेयी है, जो वाल्मीकि के गुरुकुल को छोड़ कर पंचवटी की ओर इसलिये जा रही है कि उस गुरुकुल में कुश और लव की उदग्र प्रतिभा के कारण वह पढाई में पिछड़ गई है। भवभूति के ही दूसरे नाटक मलतीमाधव में न्यायशास्त्र की आचार्या कामन्दकी हैं, जो अपने सारे शास्त्रज्ञान का उपयोग नाटक के नायक और नायिका के बीच प्रेम और मिलन को संभाव्य बनाने के लिये करती हैं।

कविता और कला के सिद्धांतों पर उस समय चलने वाली बहस में हिस्सा लेने अवन्तिसुन्दरी हैं। अवन्तिसुन्दरी चाहमान या चौहान क्षत्रिय वंश की राजकुमारी थीं, अपने समय के श्रेष्ठ कवि और आचार्य राजशेखर से उन्होंने विवाह किया था। अपने पति की रचनाओं को सामने लाने में - विशेष रूप से उनके नाटकों की रंगमंच पर प्रस्तुति कराने में उनकी पहल महत्व रखती थी। राजशेखर के लिये कविता और कला को ले कर उनके मंतव्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं थे। काव्यमीमांसा में अवन्तिसुन्दरी का मत उन्होने अ. 5, 9 और 11 में तीन स्थानों पर सादर उन्होंने उद्धृत किया है। वस्तु का अपना क्या स्वरूप होता है? कविता में वस्तु जिस तरह वर्णित होती है क्या संसार में उसका अपना स्वायत्त स्वरूप होता है? इस प्रश्न के उत्तर में अवन्तिसुन्दरी कहती हैं - कि वस्तु का नियत कोई स्वभाव नहीं होता, कवि अपनी रचना वचनावली में उसे जैसा निरूपित करता है वैसी वह हो जाती है।¹⁴

राजशेखर इस अति को त्याग करते हुए कहते हैं कि दोनों मत अपनी अपनी जगह सही हैं।

अवन्तिसुन्दरी का मत बौद्धों के विज्ञानवाद पर आधारित प्रतीत होता है। वास्तव में यह सारा का सारा विमर्श सौंदर्यशास्त्र की मूलभूत समस्याओं से संबंध रखता है, जिन पर आज भी विवाद वैसा ही बना हुआ है - एक - सौंदर्य वस्तु में रहता है या देखने वाले की दृष्टि में, दो - क्या रचना दिये हुए संसार के बरक्स नया संसार रचती है?

यह समय है जब साहित्य में शुकसारिका की रचना हो रही है। शुकसारिका की कथाओं में विवाद सारिका ही उठाती है। यही वह समय है जब मंडन मिश्र की पत्नी ने शंकराचार्य से शास्त्रार्थ किया।

यह शास्त्रार्थ शंकराचार्य और माहिष्मती के मीमांसादर्शन के महान् आचार्य मंडन मिश्र के बीच हुआ। शास्त्रार्थ में पराजित हो कर मंडन मिश्र शंकराचार्य के चार प्रमुख और आद्य शिष्यों में एक हुए तथा संन्यास आश्रम में उन्हें सुरेश्वर के नाम से जाना जाता है।

14 . विदग्धभूमितिभङ्गिगविनेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम् - इति अवन्तिसुन्दरी। तदाह - वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये। स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्तः॥ राजशेखर :काव्यमीमांसा, अ.9, चौ.वि.भ, 1982, . पृ. 104

माधव या विद्यारण्य के द्वारा कथित रूप से रचे गये शंकरदिग्विजय महाकाव्य के सातवें सर्ग में भट्ट कुमारिल शंकराचार्य से अनुरोध करते हैं कि यदि आपको वेदांत का मार्ग लोगों को दिखाना ही है, तो दिग्दिगंत में जिनका यश फैला है, ऐसे सुधीश्वर मंडन मिश्र के साथ वाद कीजिये, उन्हें जीत लेने पर सब को जी लिया यह मान लीजिये।¹⁵

शंकराचार्य के अन्य तीन प्रमुख आद्य शिष्यों- पद्मपाद, तोटक, हस्तामलक और सुरेश्वर में पद्मपाद तो स्वयं संसार से विरक्त हो कर उनके पास दीक्षा लेने के लिये आये थे, दुर्गाप्रसाद यति के पद्मपादचरितम् के अनुसार उम्बेक को तीन बार शंकराचार्य ने पराजित किया था - तीन बार शास्त्रार्थ होने का कारण उम्बेक की पत्नी को बताता है। पहली और दूसरी बार पराजित होने पर उम्बा ने उम्बेक को संन्यास की अनुमति नहीं दी थी। तीसरी बार पराजित होने पर उम्बा ने दंड और कमंडलु अपने पति के सामने रख दिये और बोली - हे विप्र, अब तुम सचमुच पराजित हुए - अब जो चाहे सो करो। यह कह कर वह खिन्न मन से घर चली गई।¹⁶

यहाँ मंदिर में शास्त्रार्थ के समय उम्बेक की पत्नी उपस्थित हैं, और वे दो बार पति की पराजय को स्वीकार नहीं करतीं, या दो बार पराजित होने पर भी उन्हें संन्यास की अनुमति नहीं देतीं, यह एक भूमिका उनकी है।

विद्यारण्य के शङ्करदिग्विजय के अनुसार माहिष्मती में जब शंकराचार्य पहुँचे तो मण्डन मिश्र के ही घर से निकली पानी लेने को कुएँ की ओर जाती दासियाँ उन्हें मार्ग में मिल गईं। शंकराचार्य ने उनसे मंडन मिश्र का घर पूछा। दासियों ने उन्हें मंडन मिश्र के घर का जो पता बताया, वैसा पता उसके पहले और उसके बाद किसी ने किसी को न बताया होगा। दीनदयाल उपाध्याय ने शंकराचार्य की एक जीवनी लिखी है, संस्कृत के एक पंडित और नाटककार जनकशंकर दवे ने शंकराचार्य के जीवन पर शङ्करदिग्विजयम् संस्कृतनाटक लिखा है। दीनदयाल उपाध्याय और जनकशंकर दवे दोनों ने अपनी कृतियों में मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ का प्रसंग विद्यारण्य के द्वारा कथित रूप से विरचित शंकरदिग्विजय के अनुसार रखा है।

शंकरदिग्विजय में चार श्लोकों में स्त्रियाँ शंकराचार्य को मंडन मिश्र का घर बताती हैं -

15. अयं च पन्था यदि ते प्रकाश्यः

सुधीश्वरो मण्डनमिश्रशर्मा
दिगन्तविश्रान्तयथा विजेयो
यस्मिन् जिते सर्वमिदं जितं स्यात्॥
(शङ्करजदिग्विजयम्, 7.113)

16. पद्मपादचरितम् चतुर्थ अध्याय 1-16।

जगद् ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात्
कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा
जानीहितन्मण्डनपण्डितौकः॥
फलप्रदं कर्म फलप्रदोऽजः
कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं
कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥

(शङ्करदिग्विजयम्, 8.6-8)

संस्कृत में तो शुक का शुकी बन जाता है। पर शंकरदिग्विजय महाकाव्यके प्रणेता ने शुक नहीं कहा, शुकी भी नहीं कहा, कीरांगना कहा है। मण्डन मिश्र के घर में कीरांगनाओं या तोतियों को शास्त्रों के वचन रट गये हैं, इस कथन में अतिशयोक्ति हो सकती है, विशेष बात यह है कि मण्डन मिश्र के घर की दासियाँ कितनी शास्त्रज्ञ या विदग्ध हैं।

महाकाव्य के अनुसार मण्डन मिश्र का घर किले की तरह बंद था, और शंकराचार्य को आकाश मार्ग से उनके आँगन में उतरना पड़ा। इसके बाद मण्डन मिश्र ने शंकराचार्य पर और शंकराचार्य ने मण्डन मिश्र पर श्लेष और वक्रोक्ति के गुँथाव के साथ अपशब्दों की बौझार कर डाली, दोनों में खासी झड़प हो गई। साक्षात् व्यास के कहने पर मण्डन मिश्र ने संयमित व्यवहार करते हुए शंकराचार्य का आदर किया। शंकराचार्य ने कहा कि मैं आप से मैं विवादभिक्षा माँग रहा हूँ, जिसमें पण शिष्यत्व का होगा - दोनों में जो पराजित होगा, उसे विजयी की शिष्यता स्वीकार करनी होगी।

इस अवसर पर उपस्थित स्वयं बादरायण व्यास और आचार्य जैमिनि ने प्रस्ताव किया था कि आप अपनी पत्नी को सदस्य (सदस्य शब्द यहाँ वाद में निर्णायक या ज्यूरी के अर्थ में है) बना कर वाद कीजिये।¹⁷

मण्डन मिश्र ने अपनी पत्नी समस्त विद्याविशारदा शारदा या भारती मिश्र को वाद में सदस्य बनाया। शारदा इस सभा में ऐसी सुशोभित हो रही थीं जैसे दोनों पंडितों में कौन बड़ा है, यह समझाने के लिये साक्षात् शारदा या सरस्वती ही अवतरित हुई हों।

17. विधाय भार्या विदुषी सदस्यां
विधीयतां वादकथा सुधीन्द्र। (शङ्करदिग्विजय)

मण्डन मिश्र और शंकराचार्य के बीच शास्त्रार्थ पाँच दिन चला, दोनों के प्रखर तर्कों को सुनते सुनते सदस्यगण साधुवाद की ध्वनि करते जाते थे।

पाँचवें दिन मण्डन मिश्र के कंठ में पड़ी माला कुम्हला गई, देवी शारदा ने कहा कि आप पराजित हुए, और मैं भी दुर्वासा के शाप के कारण धरती पर उतरी थी, आपके शंकराचार्य के द्वारा पराजित होने कर ही मेरे शाप की अवधि थी, अतः मैं अब स्वर्ग जाती हूँ। सरस्वती को इस तरह जाती देख कर आचार्य शंकर ने उन्हें रोक लिया -कदाचित् वे चाहते थे कि सरस्वती उनके द्वारा प्रतिपादित जैमिनीय शास्त्र की उपादेयता का व्याख्यान भी सुन कर ही जाएँ।

मण्डन मिश्र ने जब अपनी सहधर्मचरी से संन्यास के लिये अनुमति माँगी, तो भारती मिश्र ने कहा कि संन्यास के लिये एक सहधर्मिणी के रूप में वे अनुमति तो अवश्य देंगीं, पर पर वे शंकराचार्य को इस तरह विजयी नहीं मानेगीं।

उन्होंने शंकराचार्य को चुनौती देते हुए जो कहा, वह वही स्त्री कह सकती थी जिसे भारतीय जीवनबोध और शास्त्रपरंपराओं में रमी हुई हो। भारती ने उनसे कहा - मैं अपने पति को पूरा जीता हुआ नहीं मानती क्यों कि इनका अर्धांग मैं हूँ। जिसका अर्धांग अपराजित हो, उसे पराजित कैसे कहा जा सकता है? इसलिये इनके अर्धांग अर्थात् मुझे जीत कर ही आप मेरे पति को शिष्य के रूप में दीक्षा दे सकते हैं। मेरा तो हृदय आपसे विवाद करने के लिये उत्कंठित है।¹⁸

शंकराचार्य ने उनसे कहा - हे अबले! आपका कहना उचित नहीं, क्यों कि महान् यशस्वी लोग महिलाओं से कथा (वाद) नहीं करते।

तब भारती मिश्र ने कहा कि किसी के मत का खंडन करने के लिये जब कोई चुनौती दे रहा हो, तो वह पुरुष हो या स्त्री, अपने पक्ष की रक्षा के लिये उससे विवाद करना ही पड़ता है, इसी लिये तो जब गार्गी ने चुनौती दी, तब मुनिराज याज्ञवल्क्य ने भी उसे विवाद किया था।

भारती मिश्र ने गार्गी और याज्ञवल्क्य का दृष्टांत यहाँ दिया, वह यह भी सूचित करता है कि उपनिषदों के काल और शंकराचार्य के समय में कितना अंतर स्त्री की स्थिति में आ चुका है। उपनिषदों के काल के ब्रह्मज्ञानी

18. अपि तु त्वयाऽद्य न समग्रजितः

प्रथिताग्नीर्मम पतिर्यदहम्।

वपुरर्धमस्य न जिता मतिम -

अपि मां विजित्य कुरु शिष्यमिमम्॥ (शङ्करदिग्विजय, 9.56)

किसी महिला से यह कहने की बात कभी मन में भी न लाते कि हे अबले! यशस्वी लोग महिलाओं से वाद नहीं करते।

शंकरदिग्विजय महाकाव्य के प्रणेता कहते हैं कि परस्पर जयोत्सुक शंकराचार्य और भारती मिश्र के बीच जो वादकथा चल निकली, वह दोनों की मतिचातुरीरचितशब्दझरी और श्रुतिविस्मयीकृतविचक्षणा थी, दिन रात इस तरह विवाद करते हुए दोनों को सत्रह दिन बीत गये। भारती मिश्र समझ गई कि वे किसी अन्य शास्त्र में तो आचार्य शंकर को परास्त नहीं कर सकतीं, तो उन्होंने उनसे कलाशास्त्र संबंधी प्रश्न कर डाले - बताइये कलाएँ कितनी होती हैं, उनकी स्वरूप क्या है, और उनका व्यवहार कैसे होता है?

शंकरदिग्विजयमहाकाव्य के अनुसार इस तरह का कोई प्रश्न भारती ने नहीं पूछा कि जब आपने जीवन का एक पक्ष नहीं जाना तो आप शास्त्रार्थ कैसे कर रहे हैं। उसने कलाशास्त्र को ले कर जो प्रश्न किया, वह शास्त्रार्थ की प्रविधि के अनुसार था, पुरुषार्थों के प्रकरण में कलाविषयक प्रश्न प्रसंगानुसार उठाया जाना अपेक्षित था।

शंकराचार्य ने अमरुक राजा के देह में रहते हुए वात्स्यायन के ग्रंथ का भाष्य सहित तो अध्ययन किया ही, उस पर स्वयं भी भाष्य लिखा।¹⁹

अध्याय 7

शास्त्रों के समर में एक स्त्री

पिछले अध्याय में हमने देखा कि ईसा की पहली सहस्राब्दी में इस देश में कवियों और पंडितों को चुनौती देने वाली कवयित्रियाँ और पंडिताएँ होती रहीं। आगे चल कर चौदहवीं, पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में विजयनगर साम्राज्य का समय भी ऐसा ही था, जिसमें गंगादेवी और तिरुमलांबा जैसी सरस कवयित्रियाँ उत्कृष्ट कविता रच रही हैं, पर शास्त्रार्थ में स्त्री की भूमिका संस्कृत की परंपरा से हट कर नव्य भारतीय भाषाओं में होने वाले विमर्श में स्थानांतरित हो गई।

शंकरदिग्विजय के पश्चात् शास्त्रार्थ के क्षेत्र में सबसे बड़ी दिग्विजययात्रा कदाचित् दयानंद की रही है। दयानंद के दिग्विजय अभियान में स्त्री की सहभागिता नहीं है। स्त्रीशिक्षा के लिये उन्होंने अनोखा कार्य किया। पर उनके शास्त्रार्थों में कहीं स्त्रियाँ रही हों - और उन्हें सुना जाता हो - ऐसा उल्लेख नहीं मिला।

19. शंकरदिग्विजयम्, 10.18; कुछ किंवदंतियों में अमरुक को ही नहीं कामसूत्र के टीकाकार यशोधर व शंकराचार्य को भी अभिन्न माना गया है।

जिस अंतिम शास्त्रार्थ की चर्चा मैं यहाँ करूँगा, वह उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, गदर के ठीक एक साल बाद जन्मी, संस्कृत की एक विदुषी रमाबाई (1858-1922 ई.) के द्वारा उठाया गया। स्त्री के अस्तित्व के संकट को ले कर बुनियादी प्रश्न उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दशकों और बीसवीं के आरम्भिक दो दशकों में रमाबाई ने उठाये।

रमा बाई के पिता उस शास्त्रार्थ का आरंभ कर चुके थे, जिसे जीवन भर रमा बाई ने आगे बढ़ाया। अनंत शास्त्री ने अपनी पहली पत्नी को संस्कृत सिखाने का प्रयास किया, उन्हें इसके लिये रमा का तीखा विरोध झेलना पड़ा। पहली पत्नी के दिवंगत होने पर उनका दूसरा विवाह लक्ष्मीबाई से हुआ। लक्ष्मी बाई को उन्होंने पढाया, इसका भी ब्राह्मण समाज ने जबरजस्त विरोध किया। इनका कट्टरपंथियों से शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें अनंत शास्त्री ने स्त्री शिक्षा के समर्थन में धर्मशास्त्रों से तीन सौ अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत कर के अपने प्रतिपक्षियों को निरुत्तर कर दिया।

रमाबाई बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक मौजूद थीं। गदर के एक साल बाद उनका जन्म हुआ था। भारत के आधुनिक इतिहास के निर्माताओं और निर्मात्रियों में से उन्नीसवीं शती में जन्म लेने वाली और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक कार्यरत कुछ विभूतियों के नाम लिये जायें, तो मैं तीन महिलाओं के नाम सबसे पहले लूँगा - रमा बाई, आनंदीबाई जोशी और रख्मा बाई। तीनों समकालीन हैं, तीनों अप्रतिम व्यक्तित्व वाली महिलाएँ हैं। आनंदीबाई जोशी और रख्मा बाई - इन दो महिलाओं के संपर्क में रमा बाई रहीं, दोनों से उनकी निष्कपट मैत्री थी। रमाबाई ने स्त्रीविमर्श को ले कर जो पुस्तक लिखी, उस पर इन दोनों के संपर्क का गहरा असर है।

रमा बाई की पुस्तक का अंग्रेजी में शीर्षक *The High Cast Hindu Women* है। शम्भू जोशी ने इसका हिंदी अनुवाद हिंदू स्त्री का जीवन के नाम से किया है। अनुवादक ने सवाल उठाया है कि मुख्यधारा के इतिहास में रमादेवी जैसी महान् विभूति को उनका समुचित स्थान क्यों नहीं मिला और उसके उत्तर में शम्भू वही बात कहते हैं, जो मैंने शास्त्रपरंपरा में स्त्री के स्थान को लेकर आरंभ में कही है- सारे इतिहास पुरुषों के द्वारा लिखे जाते रहे हैं। प्राचीन धर्मशास्त्रों की तरह आधुनिक इतिहास लेखन पर भी तो उसी पुरुषवादी दृष्टि का वर्चस्व है।

रमादेवी को बचपन से ही जितने संकट झेलने पड़े, वे दहला देने वाले हैं। वे एक परिवार में जन्मी, जिसे एक दलित ब्राह्मणपरिवार कहा जा सकता है, इस दृष्टि से नहीं कि उनके पिता ब्राह्मणों में निचली श्रेणी के ब्राह्मण थे (अनंत शास्त्री डोंगरे कोंकणस्थ चितपावन ब्राह्मण थे); बल्कि इस दृष्टि से कि उन्हें केवल इसलिये समाज में प्रतारित किया गया कि वे अपनी पत्नी और बेटी को संस्कृत पढाना चाहते थे। स्त्रीशिक्षा के पक्षधर के रूप में एक धर्मसभा में उन्होंने अपना दृष्टिकोण बेबाक ढंग से सामने रखा था, और अपनी प्रखर तार्किकता तथा

शास्त्रज्ञान के चलते वे इस शास्त्रार्थ में विजयी भी हुए। अपने इस आग्रह पर निर्वासन का प्राणांतक संकट झेल कर भी अटल रहे। रमा बाई बचपन में पिता से बिछड़ गईं, माता भी नहीं रहीं, फिर संरक्षक के रूप में बड़े भाई थे, वे भी नहीं रहे।

अकेलापन और निर्वासन बचपन से इस सीमा तक जाना कि पिता की अर्थी में सिर लगाना पड़ा, कंधा लगाना यह मुहावरा ग़लत हो गया, क्यों कि बाकी तीन लोग जो अर्थी में कंधा दे रहे थे, वे कद में रमाबाई से ज्यादा ऊँचे थे, अर्थी में संतुलन बनाये रखने के लिये बालिका रमादेवी ने अपने हिस्से का छोर कंधे के बजाय उठा कर सर पर रख लिया था।

रमादेवी ने कदाचित् विडंबना के भाव से ही अपनी पुस्तक के शीर्षक में high cast शब्द का प्रयोग किया है। असल में यह ऐसी स्त्री की कथा है, जिसे एक हद तक दलितविमर्श का हिस्सा भी माना जा सकता है। रमादेवी ने अपनी पुस्तक आनंदी बाई जोशी को समर्पित की, जो उनकी समवयस्क भी थीं और दूर के रिश्ते में उनकी बहन भी। आनंदी बाई जोशी पेन्सिल्वानिया मेडिकल कालेज से डाक्टर उपाधि ले कर भारत की पहली महिला आधुनिक चिकित्सक बनीं। रमादेवी और आनंदीबाई आधुनिक भारतीय स्त्री के दो सर्वथा भिन्न रूप हैं। आनंदी बाई जोशी पूरी तरह हिंदू समाज की प्रचलित व्यवस्था की पक्षधर हैं, और उन्हें अपनी अकाल मृत्यु (26 फरवरी 1887) पर समाज का जैसा सम्मान मिला, वैसा उस काल में कदाचित् किसी स्त्री को नहीं मिला। रमादेवी उनकी तुलना में विद्रोहिणी हैं। उनका जैसा अपमान समाज के अत्यंत प्रबुद्ध जनों ने उस समय किया, वैसा भी किसी महिला का कम हुआ होगा।

The High Cast Hindu Women वास्तव में एक स्त्री की ओर से शास्त्रार्थ का प्रस्ताव है। उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसी किताब का एक भारतीय स्त्री के द्वारा लिखा जाना, जिसमें प्राचीन धर्मशास्त्रग्रंथों के प्रामाणिक अध्ययन के साथ हिंदू समाज का और उसमें स्त्री की नियति का तटस्थ वैज्ञानिक विश्लेषण हो - एक विस्मयकारी घटना है। इस पुस्तक को लिखने पीछे रमादेवी का मुख्य उद्देश्य अमेरिकी समाज को भारतीय महिलाओं की दुर्दशा से अवगत कराना तो था ही, पुरुषसत्ताक भारतीय समाज में भी स्त्री की स्थिति को ले कर एक बहस छेड़ना भी था।

संस्कृत के पंडित समाज ने उन्हें पंडिता और सरस्वती की उपाधि दी थी। दो ही संस्कृत की विदुषियाँ आधुनिक समय में मेरी जानकारी में हैं, जिन्हें हमारे समाज ने औपचारिक समारोह के साथ पंडिता की उपाधि से अलंकृत किया। एक रमादेवी हैं, दूसरी पंडिता क्षमाराव जो उनके बहुत बाद में हुईं। रमा बाई को पंडिता की उपाधि बंगाल के हिंदू नेता महाराजा ज्योतींद्र मोहन ठाकुर ने एक आयोजन में दी थी। सरस्वती की उपाधि भी उन्हें बंगाल के सुधारवादी प्रगतिशील समाज की ओर से दी गई।

1882 में रमाबाई ने स्त्रीधर्मनीति नाम से मराठी में एक किताब लिखी, और अंग्रेजी में इसका रूपांतर **Morals for women** के नाम से तैयार किया। बाद में अपने जीवन के सारे अनुभवों और अध्ययन के निचोड़ को ले कर उनकी किताब **The High Cast Hindu Woman** जून 1887 में छपी। जून 1883 में उन्होंने बंबई के भूतपूर्व गवर्नर को **The Cry of Indian Wome** शीर्षक से एक पत्र भेजा था। 29 सितंबर, 1883 के दिन रमा बाई ने बेटी मनोरमा के साथ ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। उनके इस धर्मांतरण को ले कर भारत में उनकी कटु आलोचना हुई, इंदुप्रकाश, सुबोधपत्रिका, केसरी आदि अखबारों व पत्रिकाओं ने उनकी कड़ी भत्सर्त्ता की। केवल ज्योतिबा फुले थे, जिन्होंने खुल कर रमाबाई का साथ दिया।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान प्रखर समाजसुधारकों का तबका भी स्त्री को ले कर कितना दकियानूस था, यह ऊपर दी गई पत्रिकाओं की नामावली से ही समझा जा सकता है। तिलक का केसरी भी इनमें है, जिसने रमाबाई पर ही नहीं, रमा बाई पर भी आक्रमण किया।

अस्तु, धर्मशास्त्रों से बहुत परिश्रम कर के अनुवाद सहित उद्धरण देते हुए रमाबाई ने अपनी इस पुस्तक में स्त्री की स्थिति के बारे में एक दस्तावेज तैयार किया है। वे जातिवाद, वर्णव्यवस्था से उपजी विसंगतियों की मीमांसा करती हैं।

रमाबाई मनुस्मृति के एक श्लोक (मनु. 9.130) का हवाला देती हैं, जिसमें पुत्री को पुत्र के बराबर मानने की बात कही गई है, पर वे कहती हैं कि इससे तो अपवाद भी नहीं बनता, अंततः सारी प्राचीन संहिताएँ पुरुष की श्रेष्ठता को स्थापित करती हैं।²⁰ यदि एक स्त्री से होने वाली सारी संततियाँ कन्याएँ हो, तो मनु पुरुष को अधिकार देते हैं कि वह पुत्र प्राप्ति के लिये दूसरा विवाह करे। इस परंपरा के संदर्भ में अपने समय के समाज में स्त्री की नियति का विश्लेषण करती हुई वे कहती हैं - "अन्य किसी देश में माताएँ संतानोत्पत्ति के दृष्टिकोण को ले कर इतनी दुश्चिंतित एवं भरणपोषण को ले कर इतना भार महसूस नहीं करती होगी, जितना वह भारत में महसूस करती हैं, अधिकांश मामलों में अपने पति को जीतने की आशा सिर्फ पुत्रों को पैदा करने पर निर्भर होती है।"

रमाबाई धर्मशास्त्रों और संस्कृतकाव्यग्रंथों से अनेक उद्धरण देते हुए पुरुषप्रधान समाज के दृष्टिकोण की छानबीन करती हैं, पर उनके मन्तव्यों के पीछे उन अनेक स्त्रियों की व्यथाकथाएँ भी हैं, जिनसे उनका संपर्क हुआ।

कदाचित् संस्कृत की परंपरा में स्त्री की स्थिति का इतना सटीक विश्लेषण इसके पहले केवल वात्स्यायन के कामसूत्र में दुर्भगावृत्तप्रकरण में मिलता है, कई पत्नियों के बीच उपेक्षित ठुकराई और उपेक्षित स्त्री पर अत्यंत मार्मिक समाजशास्त्रीय विश्लेषण ईसा पूर्व की शताब्दियों में एक बड़े विचारक और शास्त्रकार ने इसमें किया। वात्स्यायन बताते हैं कि दुर्भगा या अनचाही पत्नी तो सौतों से पीड़ित होती है। उन सौतों में जो पति के प्रति अधिक उपचार (सेवा टहल) करती हो, उसे पकड़ लेती है। अपनी कलाओं की जानकारी भरपूर दिखलाती है, फिर भी उपेक्षित रहती है, दुर्भाग्य के कारण रहस्य टिके नहीं रह पाते। पति की संतानों के लिये वह धाय बन कर रह जाती है। वह उन लोगों को खोजती रहती है, जिनके माध्यम से वह पति के प्रति अपनी भक्ति प्रकट कर सके। अनचाही पत्नी धर्मकर्म में और व्रत उपवास में भी आगे आगे रहती है, अपनी परवाह बहुत अधिक न कर के पति से तालमेल बिठा कर अपने अनुराग का प्रदर्शन करती रहती है, पति जिस स्त्री को गुपचुप चाहे, उससे उसका समागम कराने लगती है, और इस रहस्य को छिपा कर रखती है। पति को जिसतरह उसके पातिव्रत्य और सिध्दाई का भरोसा हो जाये, वैसा करती है। (कामसूत्रम्, .दुर्भगावृत्तप्रकरणम्, 4.2.37.-48-54)

1870 की जनगणना के रिकार्ड के मुताबिक 300 नवजात बच्चियाँ अकेले अमृतसर में भेड़ियों के द्वारा उठा ली गईं, रमाबाई 1880-81 की जनगणना के आँकड़े देते हुए भ्रूणहत्या और स्त्रियों की घटती आबादी की बात उठाती हैं। अपने स्वयं के पिता के दूसरे विवाह की घटना का विवरण देते हुए बालविवाह की विचित्रताओं का अद्भुत आख्यान रमादेवी ने किया है।

रमाबाई के काम की खूबी यह है कि उन्होंने अपने समय के अनेक प्रकरणों का हवाला भी दिया है, जिसमें रमा बाईके अटूट संघर्ष की दास्तान भी एक है।²¹

रमाबाई का विवाह ग्यारह साल की उम्र में उनसे करीब दस साल बड़े दादाजी भीकाजी से कर दिया गया। ससुराल के असह्य यंत्रणाप्रद वातावरण को न झेल पाने के कारण रमा बाई अगले ही दिन अपने घर लौट आईं, और ग्यारह साल वे ससुराल वालों और पति से उन्होंने कोई संबंध न रखा। हार कर रमा बाई के कथित पति दादा जी ने उनके खिलाफ पत्नी के साथ सहवास के अधिकार की माँग करते हुए बंबई के हाई कोर्ट में रैस्ट्रिक्शुशन आन कांजुगल राइट्स के कानून के तहत 1884 में मुकदमा दायर किया। 1885 में एक अंग्रेज जज श्री पिनी ने इस मुकदमे में रमा बाईके पक्ष में जो फैसला दिया, उसने सारे हिंदू समाज को हिला कर रख दिया था। न्यायाधीश श्री पिनी के फैसले के खिलाफ रूढिवादियों ने अपील दायर की। यह उस समय की एक बड़ी कानूनी लड़ाई थी। रमा बाईके खिलाफ लड़ने वाले रूढिवादियों में बाल गंगाधर तिलक जैसे प्रखर नेता भी शामिल थे। इससे हम समझ सकते हैं कि एक निम्नवर्गीय परिवार से आई स्त्री जो कि बहुत कम पढ़ी लिखी, बल्कि जिसकी औपचारिक शिक्षा तक प्रायः नहीं हुई है, वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये यदि उठ खड़ी होती

21. यहाँ कुछ तथ्य रमा बाईपर सुधीरचंद्र के जनसत्ता में 22 फरवरी 2009 के अंक में प्रकाशित लेख से लिये गये हैं।

है, तो उसके खिलाफ कितनी बड़ी पुरुषवादी शक्तियाँ खड़ी हो सकती हैं। मुख्य न्यायाधीश सहित दो जजों ने पिनी के फैसले को बदल दिया। रख्मा बाई ने अदालत की अवज्ञा करने की घोषणा के साथ इस फैसले को मानने से इंकार करते हुए जेल जाना स्वीकार किया।

यह दूसरी बात है कि इस समय मुकदमे के कारण एक स्त्री का जेल जाना पुरुषसमाज के दंभ को और भी अस्वीकार्य था, और इसलिये रख्मा बाई को सचमुच में हवालात की हवा नहीं खानी पड़ी।

रमाबाई ने इस किताब में अपनी प्रिय सखी रख्मा बाई का बंबई हाइकोर्ट की डबल बेंच के फैसले के तुरंत बाद 18 मार्च 1887 को लिखा एक पत्र पूरा का पूरा उद्धृत किया है, जिसमें रमा बाई अंत में कहती हैं - "मेरी

प्रिय सखी, जब तक यह पत्र तुम तक पहुँचेगा, मैं राज्य की जेल में होऊँगी, क्योंकि मैं न्यायाधीश फेरन् के आदेश को स्वीकार नहीं करती हूँ और न ही कर सकती हूँ।" अपनी किताब के वैवाहिक अधिकार शीर्षक अध्याय में रमा बाई के प्रकरण का विवरण देते हुए इस पत्र के उद्धरण के बाद रमाबाई ने टिप्पणी की है - "हम सभी कोर्ट के निर्णय पर आश्चर्यचकित नहीं हैं, हमारा आश्चर्य यही है कि शक्तिशाली हिंदू कायदे, बलशाली ब्रिटिश सरकार, लगभग 13 करोड़ पुरुषों एवं हिंदुओं के 33 करोड़ देवी देवताओं - इन सभी ने आपस में रमा बाई को निर्मूल करने हेतु षडयंत्र रचा और रमा बाई जैसी एक असहाय स्त्री ने इन सभी के सामने अपनी आवाज उठाने का साहस किया। हम ब्रिटिश सरकार को असहाय स्त्री की रक्षा नहीं करने के लिये दोष नहीं दे सकते, क्योंकि वह तो मात्र भारत के पुरुषों के साथ की गई अपनी संधियों को ही पूरा कर रही है।"

रमा बाई का एक एक शब्द एक स्त्री की उस वेदना और अनुभव से सना हुआ है, जो अहल्या का, द्रौपदी का, तारा और मंदोदरी का, इन सब का और इस देश के सहस्रों वर्ष पुराने इतिहास में असंख्य महिलाओं का अनुभव है।

अपनी किताब के सातवें अध्याय में, जो स्त्रियों की स्थिति से समाज के रिश्ते के बारे में है, रमा बाई ने एक मार्मिक बात कही है, जो कदाचित् वही स्त्री कह सकती थी, जिसे भारतीय परंपराओं और आकर ग्रंथों का अध्ययन किया हो। वे कहती हैं - स्त्री और पुरुष मानवीय समाज के एक ही शरीर के हिस्से हैं और साथ ही ये अविभाज्य एकता से जुड़े हैं, अतः इनमें कोई भी पीड़ा में होगा, तो दूसरा भी प्रभावित होगा, चाहे वह इसे स्वीकार करे या न करे।"²²

रमाबाई की किताब को छपे हुए 125 साल बीत गये। मेरे हिसाब यह किताब इतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी अपने प्रकाशन के सौ साल बाद गांधीजी की किताब हिंद स्वराज आज हमारे लिये महत्वपूर्ण है।

22. हिंदू स्त्री का जीवन, पृ. 87

समाजशास्त्री अभय दुबे उनके काम का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं - "विद्वत्ता, दुखो से टकराने वाली प्रबल जिजीविषा, संगठनशक्ति, विपरीत परिस्थितियों से लोहा लेने की क्षमता और रेडिकल फेसले ले उन पर अमल करने के मामले में उनका कोई सानी नहीं था। इससे यह भी पता चलता है कि आधुनिक भारतीय इतिहास की इस महान्

नायिका को ज्ञान और राष्ट्रवाद की मिलीजुली राजनीति द्वारा किस कदर उपेक्षा का शिकार बनाया गया है।²³

सन्दर्भ ग्रंथ-

बृहदारण्यक उपनिषद् शाङ्करभाष्य सहित - मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

शङ्करदिग्विजयः - अखिलभारत शंकर सेवा समिति, 1972

शङ्कराचार्यः (संस्कृत में अनूदित) - मूल - दीनदयाल उपाध्याय, अनु. - डा. रामविलास चौधुरी, संस्कृत भारती, 2011.

रूपकत्रयी - जनकशंकर दवे, सं. - जतिनपण्ड्या, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2011

....000.....

23. अभय दुबे - पटरी से उतरी हुई औरतों का यूटोपिया - राष्ट्रवाद का प्रतिःआख्यान - प्रतिमान, प्रवेशांक, जनवरी:जून, 2013, पृ. 395